सोने की चिड़िया और लुटेरे अंग्रेज

लेखक
सुरेन्द्रनाथ गुप्त

प्रकाशक
आचार्य प्रकाशन, कटनी

आजादी के अमृत महोत्सव 75वीं वर्षगांठ के पावन अवसर पर सादर सप्रेम भेंट

- कृति : **सोने की चिड़िया और लुटेरे अंग्रेज**
- लेखक : **सुरेन्द्रनाथ गुप्त**
- मंगल आशीर्वाद : **आचार्यभगवन्त 108 विद्यासागर जी महामुनिराज**
- प्रेरणा एवं मार्गदर्शन : **परम पूज्य मुनिश्री 108 संधानसागर जी महाराज**
- प्रकाशक : **आचार्य प्रकाशन**
पन्ना स्मृति रघुनाथगंज, कटनी (म.प्र.)
मो. : 09424676286
- आवृत्ति : **1100**
- मूल्य : **वास्तविक भारतीय इतिहास का प्रचार**
- पुण्यार्जक : स्मृति – पुज्य माताजी स्व. श्रीमती छगनी देवी पाटनी
धर्म पत्नी स्व. श्री हुकम चंद जी पाटनी
लाडनू निवासी कलकत्ता (प.ब.) प्रवासी
- प्राप्ति स्थल : **1. सि. शैलेन्द्र जैन (शैलू)**
भारत-भारतीय समग्र विकास परिषद
पन्ना स्मृति, सिंघई मार्केट, रघुनाथ गंज,
कटनी (म.प्र.) मो. : 9424676286
2. श्री प्रशान्त जैन, भोपाल (म.प्र.)
मो. 9617700813
3. 'गुणायतन' शिखर जी, मधुवन
फोन : 06558-232438
- मुद्रक : **विकास आफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स**
45, सेक्टर-एफ, औद्योगिक क्षेत्र
गोविन्दपुरा, भोपाल (म.प्र.)
फोन : 0755-2601952, 425005624

आमुख

''पीछे भी देखो, पिछलग्गू न बनो, पीछे रहोगे।''

मूकमाटी महाकाव्य के रचयिता आचार्य भगवन श्री विद्यासागर जी महामुनिराज की ये पंक्तियाँ, गागर में सागर भरने की उक्ति को चरितार्थ करती हैं। हमें भारत के अतीत काल के गौरव की ओर भी दृष्टिपात करना नितान्त आवश्यक है। भारत का स्वर्णिम इतिहास राष्ट्रप्रेम की भावना से ओतप्रोत कर देता है। पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण विनाश के कगार पर पहुँचा देगा क्योंकि सूरज जब भी पश्चिम की ओर गया है डूबा ही है।

भारत जब विश्वगुरु के रूप में प्रसिद्ध था उस समय भारत की शिक्षा पद्धति और संस्कृति आदि जिस प्रकार थी उसका अनुकरण ही भारत को पुनः विश्वगुरु के रूप में प्रतिष्ठित करेगा।

महान इतिहासकार सुरेन्द्रनाथ गुप्त द्वारा लिखित पुस्तक **''सोने की चिड़िया और लुटेरे अंग्रेज''** को सामान्यतः से अगर भारत में अंग्रेजी इतिहास का तिथि दर्पण कहें तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। गुप्त जी ने कठिन परिश्रम के साथ इस पुस्तक को लिखने का गज कार्य किया है और लेखन की इस अभिव्यक्ति एवं ऐतिहासिक प्रमाणिकता के लिये संदर्भित पुस्तकों एवं पत्रों को आधार बनाकर प्रस्तुत किया है।

सोने की चिड़िया और लुटेरे अंग्रेज की दुर्लभ प्रति श्रमण दिवाकर जैनाचार्य भगवन्त श्री विद्यासागर जी महाराज के सन्मुख रखी गई तब आचार्य श्री ने कहा कि सच्चे भारतीय इतिहास को कम शब्दों में व्यक्त करने वाली यह अद्वितीय और अद्‌भुत कृति है एवं आचार्य श्री ने इस कृति के लिए प्रत्येक देशवासी के लिये आवश्यक बताया

अतः प्रत्येक भारतीय को अवश्य ही जानना चाहिए कि हमारा इतिहास किस किस प्रकार से रचा गया एवं किस प्रकार लोगों ने रचा इसके संरक्षण एवं संर्वधन हेतु अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया अतः जन-जन में भारतीय इतिहास की गौरवगाथा एवं संस्कृति के प्रति जागरुकता लाने के साथ-साथ राष्ट्र के प्रति समर्पण, सजगता एवं सद्भावना बढ़ाने के उद्देश्य से अनमोल कृति है किन्तु भावी पीढ़ीयों को भी अपने राष्ट्र के स्वर्णिम इतिहास का साक्षात्कार होता रहे एवं एतिहासिक नींव पर उत्तरोत्तर निर्माण जारी रहे ऐसी भावना को ध्यान में रखकर पुनः प्रकाशन के उद्देश्य से इसका मूल्य निर्धारित किया गया है-

क्योंकि निश्चित ही गुप्त श्री के मन में यह विचार रहा होगा कि यह पुस्तक प्रत्येक देशवासी के मन की विचार वस्तु बने, न कि अर्थ संग्रह का साधन। विलुप्त हो रही इस पुस्तक का मुख्यपृष्ठ(कवर) क्षीण-शीर्ण रूप से प्राप्त होने के कारण मुख्य पृष्ठ को नया स्वरूप प्रदान किया गया है। इसके अलावा लेखक की मूल कृति में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है।

लेखक के प्रति हम सबके आभार सहित श्रद्धा सुमन.....

पं. शैलेन्द्र जैन (शैलू)
पता : पन्ना स्मृति, सिंघई मार्केट,
रघुनाथराज, कटनी (म.प्र.)
मो. 9424676286

सुरेन्द्रनाथ गुप्त

श्री सुरेन्द्रनाथ गुप्त ७ अप्रैल, १९३३ को सुनाम (पंजाब) के एक प्रतिष्ठित घराने में पैदा हुए। उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी.कॉम. की डिग्री, पंजाब विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में एम.ए., हिन्दी आनर्स और बैचलर ऑफ लॉ तथा कनाडा से बैचलर ऑफ एज्युकेशन डिग्रियाँ प्राप्त की। गुप्त जी १९६१ में ब्रिटेन गये और फिर १९६३ में कनाडा जहाँ सम्प्रति वे वरिष्ठ अध्यापक हैं।

विभिन्न विषयों पर उनके सारगर्भित लेख कनाडा की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहते हैं। उनकी एक अन्य पुस्तक 'शाकाहार-एक मानुषिक अनिवार्यता' भारतीय विद्या भवन बम्बई से अंग्रेजी में प्रकाशित हो रही है।

क्रूर अंग्रेजी शासन के शिकंजे में जकड़े जाने और शक्ति का ह्रास होने से पहले, भारत निसंदेह न केवल खेती की पैदावार की दृष्टि से संसार का सबसे सम्पन्न देश था वरन् सबसे महान् औद्योगिक और व्यापारी देश भी। इस बात को विदेशी विद्वान् भी मानते हैं कि हजारों वर्ष तक 'भारत' और 'वैभव' पर्यायवाची शब्द रहे। यहां के विकसित उद्योगों और उन्नत व्यापार के कारण वह संसार का सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र हो गया था।

अंग्रेजों को शासनकाल खत्म होते-होते भारतवासियों की दरिद्रता और विपन्नता सारे संसार में एक कहावत-सी बना दी गई थी। अब भारत और भुखमरी पर्यायवाची शब्द बन गये थे-यहां तक कि यह विश्वास करना भी मुश्किल-सा हो गया कि केवल एक सहस्त्र वर्ष पहले यह संसार का सबसे धनी देश था। क्योंकि अब भारत में प्रायः प्रत्येक औद्योगिक वस्तु विदेशों से आती थी और बदले में जाता था सोना, चांदी और कच्चा माल।

इस पुस्तक में दिये तथ्यों व घटनाओं से स्पष्ट हो जाता है कि किसी तरह अंग्रेजों ने वैभव-सम्पन्न भारत को घोर निर्धन व पिछड़ा देश बनाकर छोड़ दिया।

- लेखक

अनुक्रम

परिचय	00
अंग्रेजों से पूर्व भारत की आर्थिक स्थिति	00
लूटमार का पहला दौर : (१७५७ से १८१२ तक)	00
लूटमार का दूसरा दौर : (१८१२ से १९१४ तक)	00
लूटमार का दूसरा दौर : (१८१२ से १९१४ क्रमागत)	00
लूटमार का तीसरा दौर : १९१४-१९४७	00
कृषि और कृषक	00
कृषि और कृषक (क्रमशः)	00
करोड़ों की मौत और अंग्रेजों की बहानेबाजियां	00
कुछ और प्रेक्षण	00
अंग्रेजी शासन के आर्थिक परिणाम	00
टिप्पणियां	00
संदर्भ ग्रंथ	00

❑❑❑

प्रस्तावना

विदेशों में मुझसे भारत के विषय में समय-समय पर ढेर सारे प्रश्न किये जाते थे जिनमें भारत में अंग्रेजी शासन से सम्बन्धित ऐसे अनेक प्रश्न होते जो मुझे अपनी मातृभूमि तथा अपने देशवासियों के जीवन और रहन-सहन के अनेक पहलुओं, विशेष कर इतिहास-भूगोल, धार्मिक-आर्थिक और सामाजिक-राजनीतिक विषयों पर सोचने-विचारने, जानने-समझने और पढ़ने-लिखने के लिए प्रेरित-उद्धेलित करते थे। मेरे अंदर अपने देश के बारे में अधिकतर जानकारी हासिल करने की छटपटाहट ठाठें मार रही थी अतः मैं अध्ययन-मनन और लेखन में जुट गया। इस प्रक्रिया में भारत में अंग्रेजी शासन से सम्बन्धित अध्याय बहुत बड़ा और लम्बा हो गया- इतना कि इसने एक पुस्तक का ही रूप ले लिया। इस पुस्तक में मैंने भारत में अंग्रेजी शासन के केवल आर्थिक पक्ष का चित्रण करना ही उचित समझा; क्योंकि अध्ययन के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यहाँ इस देश में अंग्रेजी शासन की स्थापना मात्र इसके आर्थिक शोषण के लिए ही हुई थी। अंग्रेज इस देश को 'सोने की चिड़िया' समझते थे और उनकी गिद्ध-दृष्टि इस सोने की चिड़िया के परों पर लगी थी। यहाँ के माल-आसबाब को लूटकर अपने देश को मालामाल करने का सुखद सपना देखने वाले अंग्रेज अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में पूर्णतः सफल हुए और यह सुनहरा अवसर उन्होंने हाथ से जाने नहीं दिया। अंग्रेजों की क्रूरता-बर्बरता और हिंसक वारदातों-हरकतों से यह देश उतना नहीं टूटा जितना उनके द्वारा की गई आर्थिक लूट के कारण। इस देश की खुशहाली और समृद्धि को जोंक की तरह चूसना अंग्रेज अपना परम धर्म समझते थे और इसे शोषण के दर्द से छटपटाता देखकर खुश होना उनके मिजाज में शामिल था।

यह पुस्तक मूलरूप से मैंने अमरीकियों के लिए अंग्रेजी में लिखी थी जो 'British-The Magnificient Exploiters of India' के नाम से प्रकाशित हुई थी। तदनंतर श्री गोविन्द सिंह ने पंजाब विश्वविद्यालय के लिए इसका हिन्दी अनुवाद किया जिसे मैंने और मेरी धर्मपत्नी प्रेमलता ने संशोधित कर हिन्दी संस्करण के लिए तैयार किया।

अंग्रेजी पुस्तक के शीर्षक के अनुसार मैंने इसका हिन्दी नामकरण 'अंग्रेज भारत के शानदार डाकू' किया था क्योंकि तमाम अनुसंधान और अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट था कि भारत में विशाल पैमाने पर लूट-खसोट और घीगा-मुश्ती, जोर-जुल्म और अत्याचार मचाने वाले अंग्रेज क्रूर और निर्दय डाकुओं के अतिरिक्त कुछ नहीं थे। साथ ही एक और विचार मेरे मस्तिष्क में कौंधा कि अंग्रेज वास्तव में यहाँ इस देश में, जिसे वे 'सोने की चिड़िया' कहते थे, आर्थिक लूट मचाने की मंशा से आये थे- मात्र इसके हरे पंख नोचने के मनसूबे लेकर। अतः मैंने इसका नाम 'सोने की चिड़िया और लुटेरे अंग्रेज' रखना उचित समझा। और अब यह हिन्दी संस्करण आपके हाथों में है। आशा है, नयी-नयी जानकारियों और अंग्रेजों की काली करतूतों तथा अनेक वहशियाना कारनामों का चित्रण करने वाली यह पुस्तक मेरे देशवासियों के लिए न केवल ज्ञानवर्द्धक होगी वरन् एक प्रेरणा-स्रोत भी-इस रूप में कि भविष्य में फिर कभी किसी विदेशी लुटेरे की हमारी समृद्धि और खुशहाली पर आँख न लगे और हम अपनी एकता तथा अखंडता को आँच न आने दें।

सेंट ऐंड्रयूज वैस्ट, ओण्टिरिओ **सुरेन्द्रनाथ गुप्त**
कनाड़ा

❑❑❑

परिचय

अंग्रेजी शासन के कम से कम तीन हजार वर्ष पूर्व तक भारत और भौतिक धनाढ्यता समानार्थी शब्द थे, और इसकी धन-सम्पत्ति चिरकाल से अंग्रेज़ों समेत बहुत से विदेशी आक्रमणकारियों के लिए एक चुम्बक समान बनी हुई थी। यह देश बहुत से राष्ट्रों द्वारा उत्सुकतापूर्वक इच्छित 'इष्ट-भूमि' और 'आशा-भूमि' समझा जाता था। उदाहरणार्थ मिल्टन और शेक्सपियर (दो महान अंग्रेज़ कवियों और लेखकों) के लिए पूर्व-देश धन और उत्पादकता के चरम भण्डार थे, और एलिज़ाबेथ के शासन में और उसके बाद भी भारत को धन-सम्पत्ति और साम्राज्य का रूपक समझा जाता था। पैराडाइज़ लॉस्ट (मिल्टन की प्रसिद्ध पुस्तक) में मिल्टन का वाक्यांश ''ऑरमुज़ और इण्ड की धन-सम्पत्ति' बहुत सुप्रसिद्ध है। शेक्सपीयर भारत को ''इस संसार के लिए महान सुयोगों की पराकाष्ठा'' कहता था, ''जिस प्रकार से आने वाले संसार की पराकाष्ठा सदाचार है।''[१]

हीगल (एक प्रख्यात जर्मन दार्शनिक : १७७०-१८३१) लिखता है : 'व्यापक इतिहास की दृष्टि से भारत 'आशा-भूमि' के रूप में आवश्यकतम अवयव रहा हैं पुरातन काल से लेकर अब तक, सारे विश्व के राष्ट्रों ने अपनी इच्छाओं और लालसाओं को इस आवर्श्यजनक देश की निधियों को प्राप्त करने के लिए लगाया है : निधियां जो प्रकृति ने दी हैं-मोती, हीरे और ज्ञान की निधियां। जिस ढंग से ये निधियां आज पश्चिम के पास आ गई हैं, वह सदा ही विश्व के इतिहास में महत्त्वपूर्ण विषय रहा है, जो राष्ट्रों के भाग्य को निर्मित करता रहा है।''[२]

यूरोपियों के लिए, अमेरिका और आस्ट्रेलेशिया के साथ बहुत बड़े भाग का जन्म भारत पहुंचने की तीव्र इच्छा और गतिविधियों के कारण से ही हुआ क्योंकि कोलम्बस और अन्य यूरोपीय अनुसंधानकर्ता तो भारत की खोज करना चाहते थे, किन्तु उन्होंने गल्ती से ''अमेरिकाओं और आस्ट्रेलेशिया के एक बहुत बड़े भाग को अनायास ही एक नगण्य वस्तु के रूप में प्राप्त किया।''[३] गैलवैनो ने लिखा, ''यह कहा जा सकता है कि वह (डायैज़) मूसा की भांति इष्ट-भूमि भारत को देखने की इच्छा से आया, परन्तु उसके भाग्य में ऐसा पदार्पण नहीं लिखा था।''[४]

एक प्रसिद्ध स्विस लेखक, बज़ोरन लैण्डस्ट्रॉम, जिसने पुरातन मिस्त्रियों से लेकर अमेरिका की खोज तक ३००० वर्ष की साहसी यात्राओं और महान खोज-कर्ताओं की गाथा का अध्ययन किया, अपनी पुस्तक 'भारत की खोज' में लिखता है : ''मार्ग और साधन कई थे, परन्तु उद्धेश्य सदा एक ही रहा- प्रसिद्ध भारत भूमि पर पहुंचने का, जो देश सोना, चांदी, कीमती मणियों और रत्नों, मोहक खाद्यों, मसालों, कपड़ों से लबालब भरा पड़ा था।''[५]

एक प्रकार से, भारत की ये यथेष्ट प्रशंसा है कि मार्कोपोलो ने 'भारत' शब्द न केवल भारत प्रायद्वीप के लिए प्रयोग किया, अपितु हिन्द महासागर के जावा से लेकर अफ्रीका के समुद्रतट तक सारे क्षेत्र के लिए प्रयोग किया। डायैज़ ने जिस स्थान को 'तूफानों के अन्तरीप' का नाम दिया, उस स्थान का पुनः नामकरण पुर्तगाल के बादशाह ने १४८७ में 'पर्याप्त आशाजनक अन्तरीप' (केप आफ् गुड होप) रखा क्योंकि ''इस स्थान से परे उसे भारत पहुंचने के मार्ग को ढूंढ़ निकालने की पर्याप्त आशा थी।''[७]

भारत पहुंचने के मार्ग की दो सौ वर्षों से अधिक तक तलाश करने के पश्चात् एक पुर्तगाली वासको-डी-गामा ने, जिसका 'मार्गदर्शन' मिलिन्दी के राजा द्वारा दिया गया एक नाविक कर रहा था, अन्ततोगत्वा १४९८ में 'इष्ट-भूमि और आशा-भूमि' को पा लिया। वासको-डी-गामा की खोज रोमन युग से लेकर पूर्व की खोज के लिए चिर पुरातन लालसा का अन्तिम सोपान था। और इस खोज ने ''यूरोप के न केवल व्यापार और राजनीति के क्षेत्र में, बल्कि सारे नैतिक और बौद्धिक जीवन में'' एक क्रान्ति ला दी।[१०] इसी कारण से आनल्ड टोयन्बी ने कहा कि संसार का आर्थिक इतिहास ''तभी समझ में आ सकता है यदि भारत का इसमें योगदान विचारा जाये'' क्योंकि ''भारत नितान्त भिन्न आर्थिक क्षेत्र में भी संसार के इतिहास में एक प्रमुख शक्ति रहा है।''[११]

पुर्तगालियों पश्चात् क्रम से डच डेनिश, फ्रांसीसी और अंग्रेज़ भारत के साथ अत्यन्त लाभकारी व्यापार के लिए आपस में स्पर्धा एवं लड़ाई करते रहे। वे भारत से निर्मित वस्तुओं और मसालों को खरीद कर यूरोप में बेचकर विशाल लाभ कमाते थे। इन आयातों के बदले यूरोप के पास निर्यात करने के लिए लगभग कुछ भी नहीं था। अतः व्यापार के अन्तर को पूरा करने के लिए यूरोप को भारत में सोने-चांदी की पर्याप्त मात्रा भेजनी पड़ती थी, जो पहले स्पेन ने दक्षिणी अमेरिका से लूटी थी, और जो अन्ततः समस्त यूरोप में बंट गई थी।

इस प्रकार का व्यापार वाणिज्यवादी यूरोप को अच्छा नहीं लगा, जिसमें सोना और चांदी विदेश जा रहे थे-ब्रिटेन के प्रसंग में, १६०० में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी बनने के बाद भारत में उसकी १७५७ की पहली विजय तक १५७ वर्ष ऐसा होता रहा। अतः भारत का राजनीतिक नियंत्रण आवश्यक हो गया, ताकि उनको भारतीय आयातों के लिए

कुछ देना न पड़ें। यूरोपीय शक्तियों ने, अपनी–अपनी सरकारों की सहायता से, भारत पर अधिकार जमाने के बहुत सारे प्रयत्न किये, परन्तु भारतीय शासकों की अनुमति से प्राप्त कुछेक तटवर्ती नगरों को छोड़ वे असफल ही रहे। उदाहरणार्थ, ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेनाओं ने १६८७ में "सदा के लिए भारत में एक बड़े पक्के अंग्रेजी राज्य की दृढ़ नीवं डालने के लिए"[१२] मुगल–साम्राज्य पर आक्रमण किया। इसके बावजूद भी कि जंगी जहाज़ इंगलैंड तक से आए, मुगलों ने इस आक्रमण को इतनी आसानी से कुचल दिया। जैसे कोई मक्खी को मार दे। १७०७ में अन्तिम महत्त्वपूर्ण मुग़ल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु के उपरान्त भारत के काफी भाग का राजनीतिक विघटन और विखण्डन हो गया, जिससे यूरोपियों को भारत–विजय की अपनी दीर्घ मनोकामना की पूर्ति का अवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने आपस में एवं भारतीयों के साथ लड़ाइयां की। अन्ततोगत्वा अंग्रेज़ भारत पर नियन्त्रण करने में सफल हुए। ब्रिटेन की पहली जीत १७५७ में बंगाल में हुई और अन्तिम १८४९ में पंजाब में। १९४७ तक वे भारत के स्वामी बने रहे। अंग्रेज़ १९० वर्ष में कैसे और क्यों भारत को–समस्त मानव जाति के पांचवें भाग को–समस्त संसार के सर्वाधिक धनी देश से सर्वाधिक निर्धन बनाकर उलट–पुलट कर सका–भारतीय इतिहास की यह अत्यन्त दुःखान्त घटना इन पन्नों में लगभग सारे अभारतीय लेखकों; विशेषकर अंग्रेजों, की साक्षियों के माध्यम से बताई गई है। अंग्रेज़ों द्वारा अपनी ही सरकार की आलोचना को सरलता से रद्द नहीं किया जाना चाहिए। अतः यदि अन्यथा न बताया जाए, इस पुस्तक से उद्धृत सारे लेखक अभारतीय हैं, जिनमें से बहुधा अंग्रेज़ हैं। इन गिनती के भारत के हमदर्दों को उनके देशवासी तिरस्कार से 'लघु–इंगलैण्ड समर्थक'"[१३] और 'गोरे हब्शी' कहते थे।

अंग्रेज़ों का झुलसने वाली गर्मी में समुद्रों पार पहाड़ी धरती पर, भारत के दूर-दराज़ ऐसे लोगों के बीच जाने का उद्देश्य जिनकी संस्कृति, भाषा, धर्म, जाति और जलवायु उनसे भिन्न थे, केवल पैसा बनाना था, और कुछ भी नहीं। पुर्तगालियों और स्पेनियों के विपरीत अंग्रेज, विदेशों में प्रत्येक प्रकार की जोखिम उठाकर तथाकथित विधर्मियों की आत्माओं को बचाने के लिए नहीं गए थे।

ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री विलियम पिट ने १७८४ में भारत में अंग्रेज़ी शासन के दो उद्देश्य बताए। पहला : 'इस देश को जो लाभ भारत के सम्बन्ध से मिल रहे हैं, उनका समर्थन और विस्तार करना' तथा दूसरा : 'उस सम्बन्ध को भारतीयों के लिए शुभ बनाना।'[१५] मुख्य प्रश्न तो यह था कि दोनों में से कौन-सा उद्देश्य सर्वोपरि था? पिट और उसके उत्तराधिकारियों के १९४७ तक के कारनामों से इसका उत्तर मिलता है कि पहला उद्देश्य सदा पहला ही रहा चाहें वह कुछ भी हो। दूसरों के हितों के स्थान पर अपने हितों को प्राथमिकता देना मानव चरित्र का समान्य आधार है। अंग्रेज़ यदि अपने हितों का विचार न करते, तो वह मानव न होकर कुछ और ही होते।

इंगलैंड के एक और प्रधानमन्त्री ने १८७५ में भारत के पर‍राष्ट्र मन्त्री के नाते से शब्दों को बिना तोड़े-मरोड़े स्पष्ट कहा : 'भारत की हानि बढ़-चढ़कर होती है क्योंकि उसके राजस्व का एक बड़ा भाग बिना कुछ बदले में लिए , निर्यात कर दिया जाता है। भारत का तो लहू तो अवश्य चूसना ही है, परन्तु नश्तर वहां लगाना चाहिए जहां खून घना है या कम से कम पर्याप्त है, न कि उन भागों में जो पहले से ही दुर्बल हैं।''[१६]

अंग्रेजों ने अपने १७५७ से १९४७ तक के शासनकाल में किस प्रकार से भारत का लहू चूस-चूस कर उसको सफेद कर डाला-केवल

उनकी आर्थिक नीतियों को दृष्टि में रखकर आगे के अध्यायों में इसका विवेचन सामान्य रूप से किया गया है। परोक्ष रूप से यह पुस्तक उन आर्थिक नीतियों के भी उदाहरण प्रस्तुत करती है जो सारे साम्राज्यवादी देशों ने अपने उपनिवेशों में लगभग ७५% मानवता के लिए अपनाई; क्योंकि भारत में अंग्रेजों की भांति, उन सबने भी कम-ज्यादा वैसा ही दु:खद नाटक रचा। इस पुस्तक का उद्देश्य गड़े मुर्दे उखाड़ कर अंग्रेजों या किसी और के विरुद्ध घृणा फैलाना नहीं है, वरना अंग्रेजी शासन से प्रत्यक्ष उत्तराधिकार में प्राप्त भारत की वर्तमान अतिविकराल भौतिक निर्धनता को समझना है। यदि अन्यथा न कहा जाए, इस सारी, पुस्तक में 'भारत' शब्द का अर्थ वर्तमान भारत, पाकिस्तान और बंगला देश है। १९४७ में भारत का वर्तमान भारत और पाकिस्तान (बंगला देश सहित) में विभाजन और स्वतंत्रता दोनों ही ब्रिटिश-संसद की समवेत क्रियाएं थीं। तत्पश्चात् १९७१ में बंगला देश पाकिस्तान से अलग हो गया।

इस पुस्तक में केवल १७५७ से १९४७ तक के अंग्रेजी राज का वर्णन किया गया है। किन्तु पहला अध्याय अंग्रेज़ों से पूर्व काल की पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करता है, जो अंग्रेज़ी शासन के आर्थिक परिणाम को समझने के लिए एक प्रकार से आवश्यक है।

❑❑❑

❋ काफी समय तक (१८१२ तक) ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ईसाई धर्म प्रचारकों तक को भी कई कारणों से भारत में आने की आज्ञा नहीं दी; जिनमें एक कारण यह भी था कि ऐसा करना हिन्दू धर्म में हस्तक्षेप करना होगा जो 'विशुद्धतम सदाचारी और पक्के नैतिक पुरुष' पैदा करता है।

पहला अध्याय
अंग्रेजों से पूर्व भारत की आर्थिक स्थिति

सामान्य सर्वेक्षण

स्वतंत्रता से पहले के भारत पर लिखने वाले अनेक अंग्रेज लेखकों ने यह मत प्रचारित किया कि भारत सदैव केवल एक विशुद्ध कृषि प्रधान देश ही रहा है। इससे बड़ा झूठ नहीं हो सकता। इसके पुष्कल प्रमाण हैं कि ''अंग्रेजों से पूर्व भारत विश्व का केवल सर्वसम्पन्न कृषि प्रधान देश ही नहीं अपितु एक सर्वोत्तम औद्योगिक क्षेत्र एवं व्यापारिक केन्द्र भी था।'' १७ भारत की उर्वरा भूमि एवं कारीगर ''एशिया के अन्य भागों में अन्त और सभ्य संसार के हर भाग में कपड़ा, रेशम तथा विलास-वस्तुएं मुहैया करते थे और बदले में समस्त विश्व से सोने एवं चांदी की धारा भारत में प्रवाहित होती थी।''[१७]

जिन विविध उद्योगों, धन्धों एवं व्यापारों के कारण भारत को समस्त विश्व की औद्योगिक कर्मशाला एवं व्यापारिक धुरी होने का सुयोग्य यश प्राप्त था, अंग्रेजों ने न केवल उन्हें नष्ट करके भारत को एक विशुद्ध कृषि प्रधान देश में बदल दिया, अपितु उन्होंने भारत की कृषि सम्बन्धी समृद्धि को भी तहस-नहस कर दिया, यहां तक कि जब उन्होंने भारत को छोड़ा, तब 'एशिया की ''अन्नपूर्णा मा'' १९ भारत स्वयं अपना पेट भरने में भी समर्थ नहीं रहा।

फ्रैसवां पिरार्ड नामक एक फ्रांसीसी सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत आया था। उसकी यात्राओं के वृत्त पहले-पहल सन् १६११ में फ्रैंच भाषा में प्रकाशित हुए थे। अनेकविध शिल्प-उद्योगों के वर्णन के बाद उसने लिखा, ''संक्षेप में मैं इतना ही कहूंगा कि सोने-चांदी,

लोहे-इस्पात, तांबे एवं अन्य धातुओं तथैव जवाहरात, बढ़ियां लकड़ी तथा अन्य मूल्यवान एवं दुर्लभ पदार्थों की ऐसी विविधता थी कि वर्णन का कोई अंत नहीं हो सकता।'' उसका कहना है कि ''उनके सभी शिल्पोद्योग-उत्पादन उत्कृष्ट कलापूर्ण एवं सस्ते भी हैं।'' [२०]

''भारत के उद्योगों में सबसे महत्त्वपूर्ण था-वस्त्र उद्योग, जो संसार भर में सबसे पहले भारत में ही प्रारंभ हुआ था। यह भारत के हर भाग में विद्यमान था। सिन्धु घाटी की सभ्यता (लगभग ३००० ई० पूर्व) के पुरातन काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक संसार भर में इसकी विशेष ख्याति थी, यद्यपि प्राचीन काल से ही भारत में ऐसी-ऐसी असीम सुन्दर व उपयोगी वस्तुओं का निर्माण होते रहा है, जिन्हें मनुष्य के मस्तिष्क और हाथ की अन्यतम उपलब्धि के रूप में सभ्य संसार में खरीदा व सराहा जाता रहा है।''[२१]

ऐसे ही विचार म० मार्टिन ने भी व्यक्त किये हैं, ''जब ब्रिटेन के वासी बर्बर जंगली चित्रित किये जाते थे, उस समय भी रोमन बादशाहों के दरबार की शोभा बढ़ाने के लिए ढाका की बारीक मलमल, सुन्दर कश्मीरी शाल, दिल्ली के जरीदार रेशम आदि दुर्लभ सौन्दर्यवर्धक वस्तुएं भारत से ही मंगाई जाती थीं। यहां की नक्काशी और कशीदाकारी की हुई धातु की वस्तुएं और आभूषण हाथीदांत की बड़ी-बड़ी मूर्तियां, आबनूस तथा चन्दन से बनी वस्तुएं, खूबसूरती से रंगे छींट, बहुमूल्य हीरे, व एकतार सजे नग; कढ़ाईदार मखमल और कालीन, मजबती से ढला इस्पात. बेहतरीन चीनी मिट्टी के बर्तन, और परिष्कत नौ-वास्तुकला को समस्त सभ्य मानवजाति द्वारा युग-युग से प्रशंसा प्राप्त होती रही है। वास्तव में इतिहास के पृष्ठों में लन्दन का नाम ज्ञात होने से भी पहले भारत इस पृथ्वी पर सर्वाधिक सम्पन्न व्यापारिक केन्द्र था।[२२]

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में भारत भ्रमण को आने वाला फ्रांसीसी व्यापारी टैवर्नीथ सूती वस्त्रों का वर्णन करते हुए लिखता है। ''वे इतने सुन्दर और हल्के होते हैं कि हाथ पर रक्खे हुए पता भी नहीं लगता, सूत की महीन कताई मुश्किल से नज़र आती है।'' वह आगे कहता है, ''कालीकट की ही भांति सिकन्ज (मालवा प्रान्त) में भी इतना महीन 'कालीकट'* बनता था कि पहनने वाले का शरीर ऐसा साफ दिखता था मानो वह नग्न ही हो।''[२३]

उन्नीसवीं शताब्दी में जब अंग्रेज़ी नीतियों के कारण भारतीय उद्योगों का तीव्रता से ह्रास हो रहा था, तब बंगाल के एक मिशनरी श्रीयुत विलियम वार्ड का कहना था कि, ''उत्पादन की इस दिशा (मलमल) में हिन्दुओं का कौशल निश्चित ही विलक्षण था।

''जब इस मलमल को घास पर बिछाया जाता है और इसके ऊपर ओस गिरती है तब इसे पहचाना भी नहीं जा सकता।''[२४]

महीन वस्त्र के उत्पादन की उत्कृष्टता साबित करने को दो-एक उदाहरण पर्याप्त हैं। एक अमेरिकी लेखक के शब्दों में, ''मलमल में चार सौ से भी अधिक तार होते थे। फिर भी पूर्ण विकसित महिला के लिए पूरी साड़ी (लगभग छः गज) एक अंगूठी के भीतर से निकाली जा सकती थी।''[२५] बताया जाता है कि जहांगीर के काल में पन्द्रह गज लम्बी, एक गज चौड़ी ढाका की मलमल का वजन केवल १०० ग्रेन (एक ग्रेन-डेढ रत्ती) होता था,[२६] ''अंग्रेज व अन्य यूरोपीय लेखकों ने तो यहां की मलमल, सूती व रेशमी वस्त्रों को 'बुलबुल की आंख', 'मयूर कंठ', 'चांद और सितारे', 'बफ्ते हवा' (पवन के तार), 'बहता

***	'कालीकट' उस युग का एक महीन कपड़ा था, जिसका नामकरण सूती कपड़े विशेषतः मलमल के विश्वविख्यात व्यापारिक केन्द्र कालीकट के कारण हुआ था। पुर्तगाली और डच सबसे पहले यहीं पहुंचे थे। सर ई० वेन्स।***

पानी' और 'संध्या की ओस'[२७] जैसी अनेक काव्यमयी उपमाएं दीं, जबकि अंग्रेजों को यह भी पता नहीं था कि उन्हें बनाया कैसे जाता है। इंगलैंड ने सूती कपड़े तथा मलमल का उत्पादन करना क्रमश: १७७२ तथा १७८१ में आरम्भ किया।[२८]

यूरोपियनों ने भारतीय मलमल तथा अन्य कपड़ों की नकल के कई असफल प्रयास किये। अपने जीवन की लंबी अवधि अंग्रेजी कम्पनी की सेवा में गुजारने वाले मद्रास के गर्वनर थामस मुनरो ने एक भारतीय साल को सात वर्ष तक ओढ़ा इतने अधिक प्रयोग के बाद भी शॉल में कोई विशेष अन्तर नहीं आया था। भारत की नकल पर बनी यूरोपीय शालों के बारे में उसने सन् १८१३ में ब्रिटिश लोक-सभा की एक समिति के सामने कहा था, "मैंने कभी कोई ऐसी यूरोपीय शाल नहीं देखी, जिसका कि मैं प्रयोग कर सकूँ, फिर चाहे वह मुझे उपहार रूप में ही क्यों न मिले।"[२९] कोई आश्चर्य नहीं कि सर ऐडवर्ड बेन्ज ने सन् १८३५ में भी यह लिखा कि "अपने वस्त्र उद्योग में भारतीयों ने प्रत्येक युग में अतुलित और अनुपमेय मानदंड बनाये रखा है। उनके कुछ मलमल के वस्त्र तो मानवों के नहीं बल्कि परियों और तितलियों द्वारा तैयार किये लगते हैं।"[३०]

भारतीय कपड़ा उद्योग की विश्व भर में केवल ख्याति ही नहीं थी, अपितु उसके द्वारा करोड़ों लोगों को व्यवसाय भी मिला हुआ था, ईस्ट इंडिया कम्पनी के एक उच्च अधिकारी औरमी ने, "जिसकी लिखी इतिहास की पुस्तक "सबसे विश्वसनीय पुस्तकों में से एक है" २१ अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लिखा : कारोमंडल के तट तथा बंगाल में कोई भी ऐसा गांव नहीं मिलेगा, जहां पर हर आदमी, स्त्री या बच्चा वस्त्र व्यवसाय में न लगा हो। यह एक ऐसा उद्योग है जिसमें सारे देशवासी रोजगार पा रहे हैं...कपड़ा उद्योग का वर्णन ही भारत की आधी जनसंख्या के जीवनचरित के वर्णन के समान है।"[३२]

पटसन भारत का दूसरा घरेलू उद्योग था। बंगाल तक सीमित होने के बावजूद, हज़ारों लोग इस व्यवसाय में थे। सन् १८५५ तक भी फॉर्स रॉयल का विचार था, ''इस उद्योग में निचले बंगाल के पूर्वी भाग में बहुत से लोग इस शानदार घरेलू उद्योग में लोग हर वर्ग में, हर घर में पुरुष; स्त्री, बच्चे सभी को इस कार्य में धंधा मिलता है। हिन्दु हो या मुसलमान–नाविक, खेतिहर कृषक, पालकी–चालक, घरेलू नौकर, सभी अपने खाली समय का उपयोग सूत कातने या हाथ में तकुआ लिए बोरी के धागे बंटने में करते हैं।''[३३]

जितना प्राचीन भारत का इतिहास है, उतना ही पुराना उसका जहाज़रानी उद्योग भी है। १८११ ई० तक भी एफ० बाल्टाजर सोल्विस नामक फांसीसी ने लिखा, ''जलपोत–निर्माण कला में भारतीयों ने प्राचीन काल में ही दक्षता प्राप्त कर ली थी। और वास्तुकला के बारे में आज का हिन्दू, ''समूचे यूरोप को काफी कुछ आदर्श नमूने दे सकता है। यही नहीं, नौ–शिल्प के क्षेत्र में सतत जागरूक इंगलैंड ने आज भी हिन्दुओं से बहुत कुछ सफलतापूर्वक सीखा है। भारतीय जहाजों में कला और उपयोगिता का अद्भुत योग मिलता है। शानदार कारीगरी के बेजोड़ उदाहरण हैं वे।''[३४]

सन् १८११ ई० में ले० कर्नल ए० वाकर ने लिखा, ''हिसाब लगाने के बाद यह निष्कर्ष निकलता है कि ब्रिटेन की नौ सेना का हर जहाज बारह वर्ष बाद बदला जाता है। जबकि यह प्रसिद्ध है कि टीक की लकड़ी से बने जहाज़ पचास वर्ष से भी अधिक चलते हैं। बम्बई में बने जहाजों को चौदह–पन्द्रह वर्ष चलाने के बाद ब्रिटिश नौ सेना में लाया जाता रहा है परन्तु फिर भी वे मज़बूत समझे जाते रहे हैं। सर ऐडवर्ड ह्यूज ने नौ सेना में खरीदे जाने से पूर्व, भारतीय पोत के रूप में आठ बार जलयात्रा की। यूरोप में बना कोई भी ऐसा जलपोत न था जिसमें सुरक्षित ढंग से छः बार से अधिक यात्रा की जा सकें।''[३५]

बम्बई में बने जहाज केवल टिकाऊ ही नहीं, बल्कि संसार के सब देशों के जहाजों से बढ़िया और सस्ते भी थे। वाकर के मत में ''बम्बई में जलपोत इंगलैंड की बजाय एक–चौथाई लागत में बनते हैं। जितने रुपयों में बम्बई में जहाज खरीदा जा सकता हैं, उसके चार गुणे में तो इंगलैंड में मरम्मत ही होती है और वह भी हर बारह वर्ष बाद। बंगाल में तो इससे भी सस्ते मूल्य पर बढ़िया जहाज़ भारी संख्या में बनाए जा सकते हैं।''[३६] अतः कोई आश्चर्य की बात नहीं कि ''कान्सटैंटीनोपल के सुल्तान ने सस्ते होने के कारण अलैग्जेन्ड्रिया की बजाय'' यहीं जहाज़ बनवाए; (ब्रिटिश) ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भी बहुत सारे अपने जहाज़ बंगाल में बनवाए।[३७]

भारतीय लोहा तथा इस्पात उद्योग का भी गौरवपूर्ण उद्योगों में से एक था। सन् १८४२ में भारत के उद्योग धन्धे जब ब्रिटिश कूटनीति के कारण विनाश की ओर अग्रसर थे, तब मद्रास प्रतिष्ठान के सहायक महासर्वेक्षक कप्तान* जे० कैम्पबेल ने लिखा : ''इंग्लैंड का बढ़िया से बढ़िया लोहा भी भारत के घटिया से घटिया लोहे को मुकाबला नहीं कर सकता।''[३८]

मेजर जेम्स फ्रेंकलिन ने सागरमिन्ट के कप्तान प्रेसग्रेव का हवाला देते हुए कहा कि ''भारतीय सरिया (लोहा) श्रेष्ठ स्तर का है, उस स्वीडन के लोहे को भी वह मात देता है, जिसका लोहा यूरोप में उस समय सर्वश्रेष्ठ माना जाता था।'' फ्रेंकलिन का प्रश्न था कि, क्या भारत की भट्ठी से कोई अन्य लौह–भट्ठी मुकाबला कर सकती है?''

---

*   ***भारत में अंग्रेजों की अधीनता १७५७ में प्रारम्भ हुई जिसको पूरा होने में ९० साल लगे। अंग्रेजों ने भारत पर १७५७ से लेकर १८५७ तक राज्य अपनी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के माध्यम से किया। कम्पनी के प्रशासन में असैनिक पदाधिकारिबों की भी सैनिक पदवियां दी जाती थीं।***

१८२५ ई० में आकर इंगलैंड का एक उद्योगपति लोहे से इस्पात बनाने की कला का एकाधिकार प्राप्त कर पाया। इससे पूर्व इंगलैंड इस्पात के लिए आयात पर ही निर्भर रहता था। १७९४ में डॉ० स्कॉट ने लंदन रॉयल सोसाइटी के प्रधान को ढले हुए तैयार इस्पात का नमूना (कई और चीज़ों के साथ) भेजा, जो ''अन्य सभी परिचित ढलाइयों से कठोर था।'' अनेक विशेषज्ञों ने इसका इंगलैंड में गहन परीक्षण किया। स्टोडार्ट नाम के प्रतिभावान विशेषज्ञ उनमें से एक थे जिनके मतानुसार ''भारतीय तैयार इस्पात वास्तव में ब्रिटिश उद्योगियों के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण साबित होगा; तेज़ छुरी-कांटों के लिए तो यह बेहतर है ही, शल्य चिकित्सा के धारदार उपकरणों के लिए भी विशेष रूप से उपयुक्त सिद्ध होगा।'' १७९४ में इसका नमूना भेजने के बाद भारतीय इस्पात की मांग बहुत बढ़ गई और लगभग १८ वर्ष बाद भी स्टोडार्ट को लिखना पड़ा मुझे यदि भारतीय इस्पात से बेहतर इस्पात दिया जाये, तो मैं प्रसन्नतापूर्वक उसको ग्रहण करूँगा; परन्तु भारत का इस्पात निश्चय ही सर्वोत्तम है।[३९]

तैयार इस्पात के इलावा भारत की बनी हुई और बहुत सारी अन्य वस्तुएं भी कम्पनी के कर्मचारियों ने उपहारस्वरूप इंगलैंड भेजी जैसे कि कॉट (Caute), (एक प्रकार का सिमेन्ट, जो जानवरों के अंगों को जोड़ने के काम आता था) स्याही, डामर, जूट आदि। **''ईस्ट इंडिया कम्पनी के एक कर्मचारी डॉ० हेलेनस स्कॉट ने लम्बे समय तक भारत में रहने के बाद १७९० में लिखाः ''बहुत सारे वर्षों के प्रयत्नों से विकसित भारतीय कलाएं यूरोप के सर्वोत्तम विज्ञ दार्शनिक के लिए भी शिक्षा व मनोरंजन का साधन बन सकती हैं।''**[४०]

ब्रिटिश-पूर्व भारत केवल औद्योगिक दृष्टि से ही पाश्चात्य देशों की अपेक्षा अधिक. विकसित नहीं था, अपितु विज्ञान तथा तकनीक के क्षेत्र में भी वह काफी आगे था। ब्रिटिश तथा यूरोपीय लेखक भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि आज से अधिक से अधिक दो सौ वर्ष पूर्व तक का भारत भी अनेक क्षेत्रों में, जैसे कि खगोल विज्ञान, गणित शास्त्र, चिकित्सा विज्ञान, शल्य विज्ञान, धातु विज्ञान, बर्फ उत्पादन, सीमेंट-मसाले के निर्माण तथा कृषि के सुविकसित साधनों में दुनिया का अग्रणी था। कृषि क्षेत्र में पंक्ति में बोने के तरीकों का जो कि ''एक बहुत कुशल और उपयोगी अनुसंधान माना जाता है? ऑस्ट्रिया में पहले-पहल प्रयोग सन् १६६२ में हुआ तथा इंगलैंड में १७३० में हुआ, हालांकि इसका व्यापक प्रसार वहां इसके भी करीब ५० वर्ष बाद ही हो पाया। परन्तु, जबकि मेजर जनरल अलैक्जेंडर वाकर (लगभग १८२०) के अनुसार पंक्ति में बोने को प्रयोग भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से ही होता आया है। थॉमस हैल्कॉट ने १७९७ में इंगलैंड के कृषि बोर्ड को लिखे एक पत्र में बताया कि, भारत में इसका प्रयोग प्राचीनकाल से होता रहा है।'' उसने बोर्ड को पंक्तियुक्त हलों के तीन सेट लन्दन में भेजे, ताकि इन हलों की नकल अंग्रेज़ कर सकें क्योंकि ये अंग्रेजी हलों की अपेक्षा अधिक उपयोगी और सस्ते थे। खैर हल तो यंत्र-प्रयोगों का मात्र एक उदाहरण है। सर अलेक्जेंडर वाकर लिखते हैं, ''भारतीयों के पास खेतीबाड़ी के लिए तरह-तरह के उपकरण हैं जिनमें से कुछ तो इंगलैंड में हाल ही में सुधार होने के कारण प्रयोग में लाये गए हैं। वे आगे लिखते हैं, ''भारत में शायद विश्व के किसी भी देश से अधिक किस्मों के अनाज बोये जाते हैं और तरह-तरह की पौष्टिक जड़ों वाली फसलों का भी यहां प्रचलन है।'' वाकर की समझ में नहीं आया कि ''हम भारत को क्या आवश्यक भेंट दे सकते हैं। जो खाद्यान्त हमारे यहां हैं, वे तो वहां हैं ही, और भी बहुत से अपने से विशेष प्रकार के वहां हैं।''[४१]

विश्व के इतिहास में भारत के वाणिज्य-व्यापार का योगदान भी बहुत महत्वपूर्ण है। पश्चिमी देशों को भारत ने न केवल इत्र, जवाहरात, मसाले, रेशम और अन्य वस्त्रों जैसी विलास वस्तुएं निर्यात की, अपितु शक्कर (ग्रीक में इसे 'सुखरा' [४२] कहा जाता है, जो संस्कृत 'शर्करा से गृहीत हैं।) घी, दवाइयां, तेल और चावल जैसी दैनंदिनी आवश्यकता की वस्तुओं का भी निर्माण किया।''[४३]

भारतीय वस्तुएं इतनी परिष्कृत, सौन्दर्यपूर्ण और सस्ती थीं कि ''दुनिया के कोने-कोने में इनकी मांग थी। इसका नतीजा यह था कि सारे संसार से सोना-चांदी भारत में आता था जिसके कारण हिन्दुस्तान इतिहास के लेखों में सदा ही सब देशों मे धनी देश अंकित रहा।''[४४] गिलबर्न के अनुसार केवल बंगाल प्रांत से ही सूती, रेशमी और मिलेजुले वस्त्रों की १५ प्रकार की किस्में संसार के भिन्न-भिन्न कोनों में भेजी जाती थीं। इनके अतिरिक्त और कई किस्म के कपड़े उन्नीसवीं शताब्दी में बंगाल के भीतर ही इस्तेमाल किए जाते थे।[४५]

भारत के बने कपड़े, नील (इन्डिगो शब्द की व्युत्पत्ति भारत से ही हुई है), मसाले, शोरा जैसी अनेक वस्तुओं की मांग यूरोप में इतनी बढ़ गई कि भारतीय आयात लगभग सारे यूरोपीय देशों के लिए एक राजनीतिक समस्या बन गया। भारत का 'पवन झकोरों सा ताना-बाना' इंगलैंड और यूरोप के बहुत सारे देशों में 'प्लेग' की तरह फैला। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक तो वहां के लोग, सेनापति हो या महरी, अपनी 'इंगलैंड की शान' जैसे नामी-गरामी कपड़ें को भी छोड़कर भारत के सस्ते, हल्के, चमकीले और शानदार वस्त्रों के प्रति आकर्षित हो गये। सन् १६९५ और १६९६ में अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने ५०,००० से भी अधिक छींट की किस्मों के थान भारत से इंगलैंड भेजे।

डच और फ्रांसीसी भी भारी मात्रा में भारत से कपड़ा भेजते थे।[४६] १७०८ में डेनियल डिफ़ो ने शिकायत की कि ''ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा भेजी गई चीज़ों का इस्तेमाल इतना बढ़ गया है कि इंगलैंड की रानी भी चीन के रेशमी तथा भारतीय सूती वस्त्र पहनना पसंद करती है। केवल इतना ही नहीं, अल्मारियों में यहां तक कि शयनागारों मे यह कपड़ा छा गया है। पायदान, कुर्सियां व बिस्तर तक भी हमारे घरों में, भारतीय सूती कपड़े व वस्तुओं से बनते हैं। चाहे नारी के परिधान की वस्तुएं हों या घर की शोभा से सम्बन्धित चीजें, सबका निर्यात भारत से हो रहा है।''[४७]

डिफ़ो की यह शिकायत सन् १७०८ की नहीं बल्कि उससे कुछ वर्ष पहले की थी। १७०० ई० में इंगलैंड के महाराजा विलियम तृतीय ने भारतीय वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिया था और भारतीय रेशम या सूती वस्त्र के पहनने व बेचने वालों को डराने के लिए २०० पौंड का बहुत भारी जुर्माना घोषित किया। डिफो लिखता है ''इससे हमारे उत्पादक उजड़ते-उजड़ते बचे; एक बार फिर से उनकी समृद्धि वापस आई।'' इस असह्य दण्डविधान के बावजूद भारतीय वस्तुओं का प्रयोग बन्द न हुआ, शायद यूरोप के किसी अन्य भाग से इसकी तस्करी होती थी। इसके बाद भी इसी उद्देश्य से अनेक अधिनियम बनाए गए।''[४८] एपर्लेन-ऑफ-दी-इंगलिश-कॉमर्स के लेखक के अनुसार ऐसा प्रतिबन्ध केवल इंगलैंड में ही नहीं लगाया गया। ये वस्त्र भारत से जल व थल मार्गों द्वारा मस्कोवी तथा टारटर्रा पहुंचाए जाते, फिर वहां से लम्बा समुद्री रास्ता तय कर यूरोप तथा अमेरिका के देशों में पहुंचते। यह देखकर यूरोपीय शासकों को बड़ी चिढ़ होती। डचों को छोड़कर बाकी सब यूरोपीय शासको ने इन पर कड़ा प्रतिबन्ध लगाया।[४९]

इस लेखक के अनुसार इंगलैंड और यूरोप ने भारतीय वस्तुओं की खपत का कारण वहां की स्त्रियों का 'फैशन से मोह' था। यह मोह इतना ज़ोरदार था कि कड़े वैधानिक प्रतिबन्ध के बावजूद भी भारतीय वस्तुओं का प्रयोग बिलकुल बन्द नहीं हो सका। यह इतिहास का केवल एक संयोग नहीं है कि यूरोपीय महिलाओं के विरुद्ध ऐसी ही शिकायत काफी समय पूर्व रोमन युग में भी की गई थी जिसके कारण वैधानिक प्रतिबन्ध लगाना पड़ा था। भारतीय मलमल को (रोमन इसे नुबुला कहते थे) सात तहों में सजाकर रोम महिलाएं जब सड़कों पर निकलती थीं तो नगर की नैतिकता ऐसे संकट में आ पड़ी कि रोमन सीनेट को ही हस्तक्षेप करके उस शानदार भारतीय वस्तु के प्रतिबन्ध लगाना पड़ा। पहली शताब्दी के आसपास भारत से ही केवल आयातित रेशमी वस्त्र रोम की सम्पन्न महिलाओं द्वारा बेहद पसंद किया जाता था और तीसरी शताब्दी के दूसरे आधे भाग तक भी (महाराज) ऑरेलिन के समय तक इसका भार सोने के भार के बदले तोला जाता रहा। इस व्यापार के फलस्वरूप रोम का सोना व चांदी बहुत घनी मात्रा में देश से बाहर निकलने लगा जो ''नीरो के राज्यकाल से आगे रोमन साम्राज्य के आर्थिक संकट का एक महत्त्वपूर्ण कारण था।''[५२] क्योंकि पश्चिम के पास इन चीज़ों के बदले पूर्व को देने को सोने-चांदी के अतिरिक्त था भी कुछ नहीं। जिनका बहुत सारा भाग भारत को उसकी चीजों के बदले जाता रहा।[५३] दूसरी शताब्दी के आरम्भ में प्लीनी नामक एक रोम लेखक की शिकायत थी कि, ''भारत को हर वर्ष ५५ करोड़ सेस्टरसीज़ (रोमी मुद्रा) से भी अधिक हमारे साम्राज्य से जाते रहे हैं।'' उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के आसपास इसे 'करीब १४ लाख पौंड वार्षिक' आंका गया[५४] बड़े खेद के साथ प्लीनी को कहना पड़ा था कि 'हमारे ऐश-आराम तथा महिलाएं हमें बेहद महंगी पड़ती हैं। यह कतई

आश्चर्य की बात नहीं कि छठी शताब्दी में रोमी सम्राट जस्टीनियन द्वारा संकलित सार्वजनिक कानूनों के अनुसार' हमें पता लगता है कि अन्य भारतीय वस्तुओं के अलावा रेशमी और सूती कपड़ों पर भी सब प्रकार के कर लगाये जाते थे, जो वह भारत से हमारी तरह ही और शायद उन्हीं कारणों से मंगवाते थे, क्योंकि उनको हमारी तरह ही अपने देश में बनाने के बजाय भारत से ये वस्तुएं खरीदनी सस्ती पड़ती थीं।[५६]

आइये, फिर हम ब्रिटिश-पूर्व काल में लौटें। यूरोपवासियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो यूरोपीय कम्पनियां भारतीय सामान भेज रही थीं, वास्तव में भारी लाभ कमा रही थीं। उदाहरणार्थ ''ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी आरम्भ में अपनी पूंजी पर १००% लाभ कमाती थी और कुछेक बार तो यह प्रतिशत और भी बढ़ जाता था।''[५७] इसीलिए, रूसी सम्राट पीटर दी ग्रेट (१६८२-१७२५) भारतीय व्यापार को ''समूचे विश्व के व्यापार की संज्ञा देते हैं और कहते हैं कि जो भी कोई इस पर नियंत्रण कर सकेगा वह यूरोप का एकछत्र अधिनायक बन जायेगा।''[५८]

भारतीय वस्तुओं के बदले यूरोप के पास ऐसी कोई भी वस्तु नहीं थी जिसे वह भारत को बेच पाता, इसलिए रोमन काल की ही तरह अब भी उसे बदले में सोना-चांदी ही देना पड़ रहा था। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी जो १६०० ई० में भारत की बनी हुई वस्तुओं और कच्चे माल को यूरोप में ले जाकर बेचने के लिए बनी थी, प्रत्येक वर्ष भारतीय वस्तुएं खरीदने के लिए ४ लाख से ५ लाख पौंड तक १७५७ से पहले भारत भेजा करती थी।[५९]

सन् १६१६ से १६१९ तक भारत यात्रा पर आए ऐडवर्ड टैरी का मत है कि, ''मैं यह नहीं जानता कि यूरोप का धन किन-किन मार्गों से

भारत आता है; पर हां, इतना निश्चयपूर्वक कह सकता हूं कि जिस प्रकार सभी नदियां सागर की ओर बहती हैं उसी प्रकार यूरोप के चांदी के नाले भी भारत की ओर ही बह रहें हैं।''[६०]

संक्षेप में, सारे प्रमाण स्पष्ट रूप से यह साबित करते हैं कि अंग्रेजों के राज्य से पूर्व, एक प्रख्यात इतिहासकार के शब्दों में ''भारत पूरे तीन हजार वर्ष तक व्यापार के क्षेत्र में विश्व का केन्द्र–बिन्दु रहा।'' और उसने व्यापारिक संतुलन को सदा ही अपने पक्ष में रक्खा, संतुलन को बनाये रखने के लिए यूरोप को अपना खजाना खाली करना पड़ा, व्यापार के क्षेत्र में वह भारत का ऋणी रहा।''[६१] सर जार्ज बर्डवुड का भी यही निष्कर्ष था कि, ''३००० वर्षों तक समूचा विश्व अपना सोना–चांदी भारत की ओर उसके उत्पादनों को खरीदने के लिए बहाता रहा।''[६२]

ब्रिटिश साम्राज्यवादी यह तर्क दे सकते हैं कि ब्रिटिश–पूर्व की भारतीय अर्थव्यवस्था जड़ थी, निश्चल थी, जो स्वयं को उससे आगे विकसित नहीं कर सकती थी। परन्तु वास्वविकता यह है कि ''ब्रिटिश पूर्व की भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास मध्यकालीन व्यवस्था से नवोदित औद्योगिक पूंजीवाद की ओर ही रहा था। ग्रामीण कारीगर ग्राम छोड़कर कारखानों में काम करने के लिए शहरों की ओर आने लगे थे, और उस नींव का निर्माण कर रहे थे जो औद्योगिक विकास तथा राष्ट्रीय आय को सतत ऊंचा उठाने में सक्षम हो। चिर–अतृप्त तथा लालची अंग्रेज व्यवसायियों के बीच में लपक पड़ने से विकासमान भारतीय व्यवस्था पर . हिंसक प्रहार हुए, भारतीय आर्थिक क्रांति को बीच में रोक मध्यकाल की ओर मोड़ने का बलात् प्रयास किया गया। इस प्रकार भारतवर्ष को भुखमरी का स्थायी अड्डा बना देने का घिनौना षड्यन्त्र रचा गया।''[६३]

इस 'उदीयमान औद्योगिक पूंजीवाद' के सन्दर्भ में कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं। एक फ्रांसीसी यात्री टैवरनियर ने गोलकुंडा के पास स्थित कोल्हर (दक्षिण भारत) हीरे की खान के बारे में कहा है कि ''वहां लगभग ६०,००० लोग काम करते थे।''[६४] सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत आये एक अन्य फ्रांसीसी यात्री बर्नियर ने भी मुगल राजधानी में चालू उन फैक्टरियों का वर्णन किया है जिनका प्रभाव देश भर में था।'' अनेक स्थानों पर विशाल इमारतें दिखाई पड़ती थीं; जिन्हें 'कारखाने' या 'कारीगरों की कर्मशालाएं' कहा जाता था। एक कक्ष में कशीदाकार अपने उस्ताद की देखरेख में अपने काम में व्यस्त रहता, तो दूसरे में स्वर्णकार, तीसरे में रंगसाज, चौथे में वार्निश वाले, पांचवें में जोड़ने-मोड़ने वाले, दर्जी और मोची, छठे में सूती कपड़ा वाले, ज़री करने वाले; और सुन्दर मलमल बनाने वाले मिल जाते। सुनहले फूलों के साथ कमरबन्दें बनाई जातीं। स्त्रियों के लिए सुन्दर सलवारे बनाई जातीं। कढ़ाई का हर सामान तैयार होता। कारीगर हर सुबह अपने कारखानों को ठीक करते, दिन भर काम करके शाम को घर लौटते।''[६५]

एक प्रख्यात भारतीय अर्थशास्त्री के विचारानुसार, ''वे कारीगर जो या तो अपने लिए काम करते थे या बडे या छोटे कारखानों में उस्ताद कारीगरों या ठेकेदारों या साहकारों के लिए काम करते थे; बहुत प्रकार की कलाओं और हस्त उद्योगों का उत्पादन करते थे जो वास्तव में आर्थिक और वित्तीय दृष्टिकोणों से तत्कालीन यूरोप से कहीं अधिक उन्नत थे।''[६६] धनी साहूकारों के अतिरिक्त बड़े-बड़े धनी व्यवसायी, साहूकार, एजेंट, आढ़ती, और छोटे-छोटे ठेकेदार तब भी मौजूद थे। मुगल बादशाह जहांगीर (१६०५-२७) के बारे में पायरार्ड ने कहा है कि ''उसके राज्य में काफी लोग अत्यन्त धनी और सुसंस्कृत थे।''[६७]

यूरोपवासी मांडेलस्लो के अनुसार ''दिल्ली में विदेशियों के लिए ८० सराये थीं, जिनमें बहुत शानदार आवासघर, गोदाम, तिजोरियां और घुड़सालें थीं।''[६८] मानरीक (१६२९-४३) नामक एक अन्य यूरोपीयन का मत था कि, ''पटना शहर में काफी लोग (६००) दलाल और आढ़ती थे, जिनमें से बहुत सारे धनिक थे।''[६९] आगरे के बारे में उसका कहना था कि, ''व्यापारियों के घरों में सम्पदा इस कदर भरी पड़ी थी कि जैसे चने के ढेर लगे हों। ढाका में भी रुपयों के ऐसे ही ढेर लगे रहते थे। इसलिए गिनने के स्थान पर इन्हें तोलना ही अधिक सरल समझा जाता था।''[७०]

ये व्यापारी यूरोप सहित दूर-दूर के अनेक देशों के साथ व्यापार करते थे। उनकी हुंडियां बिना किसी संकोच के लगभग सारे विश्वभर में स्वीकार की जाती थीं। ऐसे ही एक बैंकिग हाउस-बंगाल के जगत-सेठ की तुलना बर्क ने 'बैंक आफ इंगलैंड' से की है।'[७१] सूरत का एक बड़ा व्यापारी वीरजी वोहरा विश्व का सबसे बड़ा धनी माना जाता था। सूरत के सारे व्यापार पर, और मालाबार तक तटीय व्यापार के बड़े भाग पर उसका नियंत्रण था। साथ ही दूर-दूर के औद्योगिक केन्द्रों, जैसे आगरा, बरहामपुर और गोलकुंडा में भी उसके अड्डे थे। फारस की खाड़ी के देशों, और पूर्वी द्वीपसमूहों के साथ उसका व्यापार चलता था। अब तक की चर्चा का संक्षेप निम्नलिखित उक्ति से हो जाता है: ''भारत औद्योगिक उत्पादन और व्यापार के क्षेत्र में तत्कालीन यूरोप या एशिया के किसी भी राष्ट्र से कही अधिक आगे था। उसके कपड़ा-उद्योग से बने बढ़िया वस्त्रसूती, ऊनी, छालरी, रेशमी-सारे सभ्य विश्व में प्रसिद्ध थे। इसी तरह उसके उत्कृष्ट गहने और हर रूप में बने जवाहरातों की गढ़ाई का काम था। इसी प्रकार खाने-पीने के बर्तन, चीनी मिट्टी के बर्तन, और अनेक तरह की पत्थर-चूने की वस्तुएं, बढ़िया तो थी ही,

रंग और रूप में भी उत्कृष्ट थीं। यही बात धातु से बनी लोहा, इस्पात, चांदी व सोने की वस्तुओं के बारे में सत्य है। भारत में महान् अभियान्त्रिक प्रतिष्ठान थे। बड़े-बड़े साहूकार थे। न केवल भारत सबसे बड़ा पोतशिल्पी राष्ट्र था, उसके जल व स्थल मार्गों से दूर-दूर के सभ्य देशों से घने वाणिज्य व व्यापारिक सम्बन्ध भी थे। ऐसी थी भारत की लूभावनी तस्वीर, जब अंग्रेज ने भारत की धरती पर कदम रखा।[७३]

ऐसी स्थिति में जबकि भारत के पास आर्थिक उन्नति के लिए आवश्यक चारों ही तत्त्व-भूमि, श्रम, पूंजी व उद्यमी-प्रचुरता में उपलब्ध थे, भारत ही नहीं कोई भी देश अपने प्राकृतिक विकास मार्ग पर चलकर सहज ही श्रेष्ठ आधुनिक औद्योगिक राष्ट्र बन सकता था। .. परन्तु ये थे वही अंग्रेज 'जिन्होंने भारत के इस स्वाभाविक औद्योगिक विकास को केवल रोका ही नहीं, बल्कि उसे पूर्ण रूपेण मध्यकालीन सामंतवाद के रक्तिम मुख में उल्टा धकेल दिया।

भारत के विशेष भागों का सर्वेक्षण

अंग्रेजों के साथ १७९९ में लड़ते हुए वीरगति प्राप्त करने वाला मैसूर का अन्तिम सुल्तान टीपू था। टीपू के प्रशासन के बारे में इतिहासविज्ञ भूर का यह कहना है : ''यदि कोई व्यक्ति एक अनजाने देश में यात्रा करता हुआ उस देश को अच्छी प्रकार से संपन्न पाये, उद्यमियों से बसा पाये, नये-नये बने नगर पायें, विस्तृत व्यापार पायें, बढ़ते हुए कस्बे पाये, और सब कुछ फलाफूला पाये, जिससे समृद्धि प्रकट हो, वह व्यक्ति स्वभावतः निष्कर्ष निकालेगा कि वहां की सरकार लोकहितैषी है। ऐसी ही थी टीपू की सरकार। इस मान्यता के प्रमाण हैं कि टीपू की प्रजा इतनी ही खुशहाल थी जितनी कि किसी राजा की हो सकती है।''[७४]

ब्रिटिश गुप्त समिति के सामने मि० पीट्री ने १७८२ में दक्षिण भारत के एक राज्य तंजौर के बारे में यह गवाही दी। १७६९ में तंजौर राज्य को ब्रिटिश ने अपना मित्र माना, और १७७३ में उसे अंग्रेज़ों ने हड़प लिया। पीट्री कहता है, ''इससे पहले कि मैं तंजौर राज्य की वर्तमान दशा का वर्णन करूं, मैं समिति को यह बताना आवश्यक समझता हूं कि कुछ ही वर्ष पूर्व यह राज्य हिन्दुस्तान में एक सर्वाधिक समृद्ध, सर्वोत्तम कृषि से युक्त, और सबसे सघन आबादी वाला प्रदेश माना जाता था। १७६८ में जब मैंने इसे पहले-पहल देखा, तब की स्थिति और आज की स्थिति में बहुत भारी अन्तर है। तंजौर स्वदेशी और विदेशी व्यापार का पहले बहुत बड़ा केन्द्र था। मलमल, छींट, रूमाल, धारीदार, सूती कपड़ा, कई प्रकार का लट्ठा और मोटा रंगीन कपड़ा तंजौर से निर्यात किया जाता था। डच और डेनिश लोग मोटे रंगीन कपड़े पर अच्छी लागत लगाते थे क्योंकि इस कपड़े की अफ्रीकी देशों, वेस्टइंडीज़, तथा दक्षिण अमेरिका में बेहद मांग थी। तंजौर से बढ़कर कुछ ही देशों को, प्राकृतिक वरदान प्राप्त है। तंजौर के पास बढ़िया व उपजाऊ भूमि है। कावेरी तथा कोलेरुन नदियों से घिरा होने के कारण जल की उपलब्धि अद्वितीय है। नदियों का पानी जलाशयों, नहरों और नालियों द्वारा राज्य भर के लगभग प्रत्येक खेत तक पहुंचाया जाता है, जो तंजौर की असाधारण पैदावार का एक बहुत बड़ा कारण है।...कुछ ही वर्ष पूर्व तक तंजौर ऐसा सम्पन्न था, परन्तु इसका पतन इतनी तीव्र गति से हुआ है कि आज अनेक जिलों में यदि इसकी पूर्व समृद्धि के अवशेष भी खोजे जाएं तो असफलता ही हाथ लगेगी।''[७५]

दक्षिण तथा अन्य मराठा भू-भाग

सन् १७५८ में मराठा (या मरहटा जैसे कि कभी-कभी लिखा जाता है) प्रदेश का दौरा एक यूरोपीय ऐंकटिल डू० पैरों ने किया। वह

लिखता है, ''हर्षोउल्लास व परिपूर्णता के वातावरण में अपने को पाकर लगता है कि मैं किसी स्वर्णिम युग में हूं। जहां अभी प्रकृति बदली नहीं है, लोग युद्ध और क्लेशों से मुक्त हैं; खुश मिजाज, उत्साही तथा हृष्ट-पुष्ट हैं। असीम अतिथि सत्कार उनका जन्मजात गुण है। मित्र हो, पड़ोसी हो या अनजान आदमी, सबके लिए उनके दरवाजे और सुख-साधन खुले रहते हैं।''[७६]

सन् १८०३ ई० में सर जॉन मैलकम ने पेशवा द्वारा शासित मराठा-देश की यात्रा की, जिसकी अवस्था के बारे में वे लिखते हैं, ''मराठों के दक्षिणी जिलों से बढ़कर हरा-भरा, भूमि की सब प्रकार की पैदावार से परिपूर्ण और व्यापार के कारण धनधान्य से सम्पन्न मैंने कभी भी कोई और देश अब तक नहीं देखा। पेशवाओं की राजधानी पूना बहुत सम्पन्न और फलती-फूलती व्यापारिक नगरी थी। एक पथरीली व अनुर्वर भूमि में जितनी अधिक से अधिक कृषि हो सकती है, उतनी इस भू-भाग में हो रही थी।[७७]

महाराष्ट्र का दूसरे बड़े भू-भाग मालवा के विषय में जो होल्कर के अधीन था। यही लेखक लिखता है-''मैंने मालवा को खंडहर जैसी स्थिति में देखा था. जिसका कारण तत्कालीन भारतीय छापामारों का कब्ज़ा था। ऐसे समय में भी मैं यह देखकर हैरान हो गया कि शहरों में धन का आदान-प्रदान, व्यापक मात्रा में लगातार चलता था। साहूकार बहुत संपन्न थे और राज्य से पर्याप्त मात्रा में माल का निर्यात होता था। बीमा कम्पनियों का व्यापार, जो देशभर में फैला था कभी भी बन्द नहीं हुआ। उनके शासन का ढंग उदार तो था ही, स्नेहपूर्ण भी था। मेरे विचार में उनकी इस समृद्धि का कारण है हिन्दुओं का कृषि सम्बन्धी ज्ञान और तत्परता, कस्बों और गांवों को समृद्धि की ओर ले जाने में उनका हमसे अधिक सूझ-बूझ भरा नित्य व्यवहार, धनी लोगों को प्रोत्साहन और

पूंजी का कुशल उपयोग। परन्तु समृद्धि को प्रोत्साहन देने वाले कारणों में से सबसे बड़ा कारण है उनका ग्रामीण और अन्य स्थानीय संस्थानों का निरंतर पोषण और हर वर्ग के लोगों के लिए रोज़गार की व्यवस्था, जिसमें वे हमसे कहीं अधिक विकसित हैं।[७८]

ऐसी ही शानदार साक्षियां यूरोपीय यात्रियों ने अपनी आंखों से देखकर १७८९ में मराठा महासंघ के एक सदस्य बराड़ के अधिराज्य के बारे में लिखी। उनके कुछेक उदाहरण दिये जाते हैं। 'एक यूरोपीय पर्यटक का कहना था कि ''यह प्रान्त पूर्णतः फल-फूल रहा था। इसकी नींव रखने वाले पुरातन राजाओं के प्रति हार्दिक बधाई अर्पित किये बिना मैं रह नहीं सकता। इस देश की उपजाऊ भूमि को ऐसा बनाने में असंख्य लोगों ने हल जोता होगा। आज भी ये लोग अपने घरों के सुन्दर रख-रखाव में कितने सावधान हैं। अपने अगणित मंदिरों की देखभाल तथा उनका संरक्षण तत्परता से करते हैं। तालाबों को साफ रखते हैं, और सार्वजनिक हित के कार्यों में सहयोग के साथ जुट कर परिश्रम करते हैं। निस्संदेह अपने शहरों के सुंदर रूप व हरियाली को बनाये रखने में इनका कोई मुकाबला नहीं कर सकता।''

बराड़ प्रान्त के बारे में ही एक अन्य यात्री कहता है : ''फिर हमने एक ऐसे देश से होकर यात्रा की, जो वास्तव में बेहद सुन्दर था, पास की पर्वत-चोटियों से नदियां निकलती थीं, जिनके पानी से सिंचाई होती थी, यह जंगलों से एकदम मुक्त था, और बहुत सारे गांव बसे थे। वृक्षों की शोभायमान कतारों तथा पानी के सरोवरों की विविधता ने इसके सौंदर्य में चार चांद लगाए थे। मराठों का शासन इस क्षेत्र में पर्याप्त मजबूत था। रास्ते भर हमें अत्यन्त विनयी और सभ्य लोगों का आतिथ्य मिला, इस प्रान्त में प्रत्येक प्रकार का अन्न विपुल मात्रा में मिलता था। खाद्यान्नों की उत्पादन लागत भी बहुत सस्ती थी।''[७९]

बंगाल

सन् १७५७ अंग्रेजों द्वारा बंगाल की जीत के पहले उसी साल में लॉर्ड मैकाले ने लिखा था, ''मुगलिया राज्य के अधीन सभी प्रान्तों में से बंगाल सबसे धनी था। कृषि और वाणिज्य के लिए इतनी प्रचुर मात्रा में प्राकृतिक संसाधन भारत के किसी भी प्रान्त के पास न थे। मुस्लिम तानाशाहों तथा मराठा छापामारों के बावजूद भी सारे पूर्व में बंगाल को 'नंदन वन' कहते थे। तीव्र गति से इसकी जनसंख्या बढ़ी, इसके अन्नागार से दूर-दूर के प्रान्तों का भी भरण-पोषण होता था। लन्दन और पेरिस की सम्भ्रान्त महिलाएं यहीं के हथकरघा उद्योगों से बने शानदार वस्त्रों को पहनती थीं।''[८०]

असीम सम्पन्नता से परिपूर्ण बंगाल को विपन्न व दीन हीन बनाने के जिम्मेदार लोगों में से एक लॉर्ड क्लाइव था। १७५७ में ही क्लाइव ने मुर्शिदाबाद की यात्रा की। तभी प्लासी के युद्ध के बाद बंगाल में लूटमार और डकैती शुरू हुई। क्लाइव का अनुमान था कि बंगाल की यह पुरानी राजधानी जन-धन व क्षेत्रफल में उसके समय के लंदन के बराबर थी। इसके राजमहल यूरोप से कहीं भव्य थे, और लोगों की आर्थिक स्थिति भी लंदन की अपेक्षा अच्छी थी। क्लाइव का कहना था कि, ''भारत धन का अक्षम भण्डार है, जो यहां राज करेगा उसे यह देश दुनिया के सर्वश्रेष्ठ धनवानों की कोटि में लाकर रख देगा।''[८२] आगे क्लाइव कहता है कि 'बंगाल की समृद्ध धरा को 'भू-स्वर्ग' कहकर पुकारा जाता रहा है। अपनी जन-आवश्यकताओं की पूर्ति के अलावा यह प्रान्त देश के एक बहुत बड़े हिस्से की आवश्यकताओं की पूर्ति भी करता था। यहां के बने बहुमूल्य पदार्थों का प्रयोग केवल अपने लिए ही नहीं सारे विश्व के लिए पर्याप्त था।''[८३]

हालवेल लम्बे समय तक इस देश में रहा था। अपने विषय का वह पंडित था। बंगाल में देशी शासकों के राज्यकाल के बारे में वह कहता है, ''इतने सुखी जन-जीवन का मर्दन करना भयंकर क्रूरता होगी। यहा के लोगों को न अपनी सम्पत्ति के छिन जाने का भय है और न ही उनकी मुक्तावस्था को कोई छीन सकता है। यहां डकैती का नाम तक नहीं सुना जाता। प्रशासन में बुद्धिमत्तापूर्ण, सर्वमान्य एवं माननीय नीतियां बरती जाती हैं, धनी प्रान्त ढाका का चप्पा-चप्पा उपजाऊ था। इस तरह बंगाल वासियों की ज़रूरतों, सुख-सुविधा की वस्तुओं, और शान-शौकत की सामग्री की पूर्ति होती थी। बिना किसी पक्षपात के सभी लोगों को समान न्याय दिया जाता था।''[८४]

लार्ड क्लाइव की ही परिषद का एक सदस्य ल्यूक स्क्राफ्ट १७७० में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'रिफ्लैक्शन्स ऑफ दी गवर्नमेंट ऑफ हिन्दोस्तान' में लिखता है- ''भारतवर्ष की न्याय-व्यवस्था इतनी विवेकपूर्ण थी कि दमन या शोषण के लिए कहीं से भी रास्ता नहीं बचता था। १७३९ में नादिरशाह के आक्रमण तक यह व्यवस्था चलती रही। तब तक विश्व भर में शायद ही कहीं ऐसी व्यवस्था रही हो। इसी की छत्रछाया में उद्योग, कृषि और व्यापार फले और फूले। दमन या उत्पीड़न से भयभीत सिर्फ वे थे जो अपने धन अथवा शक्ति के मद में जनता के लिए स्वयं खतरनाक थे। इन बहुत थोड़े वर्षों से पहले तक व्यापारी, कहीं भी इससे अधिक सुरक्षित नहीं थे और न ही इतने आराम से रहते थे, जितने कि इस शासन में। विश्व के किसी भी अन्य भाग में कला-कौशल और कृषि का इतना विकास नहीं हुआ, जिसका प्रमाण हैं अत्यधिक मात्रा में विविध प्रकार के उत्पादन और विशाल संख्या में धनी व्यापारी।''[८५] ।

१७७२ में एक अन्य तत्कालीन लेखक विलियम बोलट्स लिखता है, ''भारत के अनेक स्थानों पर व्यापार के लिए प्रकृति प्रदत्त संसाधन उपलब्ध हैं। परन्तु बंगाल प्रान्त में जो इस समय हमारे लेख का विषय है, इनकी सबसे अधिक प्रचुरता है। साम्राज्य का यह सूबा जिसे बादशाह औरंगजेब आग्रहपूर्वक 'राष्ट्रों का स्वर्ग' पुकारता था, सहज ही मानव जाति को न केवल स्थिरता अपितु उसके सुखमय जीवन के लिए लगभग प्रत्येक वस्तु विपुल मात्रा में उत्पन्न करता था।''[८६] तदुपरांत बोलट्स ने बंगाल की परवर्ती दयनीय दशा और गरीबी के कारणों का वर्णन किया है।

उत्तर-पश्चिमी प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश)

१८०८ में, ब्रिटिश आयोगों द्वारा प्रकाशित एक रिपोर्ट में उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों के बारे में कहा गया है कि, ''रामपुर क्षेत्र में गुज़रते हुए हम इसकी कृषि की उन्नत अवस्था का उल्लेख किए बिना नहीं रह सकते। यदि इस प्रदेश की हमारी सरकार तथा पूर्ववर्ती रुहेला सरकार की तुलना करें तो यह सोचते हुए कष्ट होता है कि रुहेलों का स्तर कहीं अधिक ऊंचा था।''[८७]

अवध के नवाब की भूमि को हड़पने के उद्देश्य से भारत की ब्रिटिश सरकार ने उसके खिलाफ अनेक वर्षों तक सब प्रकार निराधार प्रचार किया था, जिसे अन्ततः १८५६ में अंग्रेज़ों ने हड़प कर ही छोड़ा। १८२३-२४ में यात्रा पर आए बिशप हैबर ने यह विचार व्यक्त किए: ''अवध के बारे में इतना कुछ सुनने के बाद मुझे यह देखकर प्रसन्नता, और हैरानी भी हुई कि यहां पूरी तत्परता से खेतीबाड़ी की जाती थी। यदि इतने अत्याचार किए गए होते, जितने कि कहे जाते हैं तब मेरे विचार में इतनी जनसंखा और इतनी विशाल संख्या में उद्योग धन्धे न होते, जितने हम यहां देखते हैं।[८८]

ब्रिटिश सरकार द्वारा अवध को हड़प लेने के बाद इस 'सारे भारत में एक अत्यधिक उपजाऊ और एक अत्यधिक उन्नत प्रान्त' का क्या हुआ? इस विषय में ए० जे० विल्सन कहते हैं: ''१८५७ की बगावत के कुछ ही समय पूर्व यह प्रांत हमारा हुआ। मात्र लगभग बीस वर्षों में हमने इसे एक गरीब व जर्जर प्रदेश में परिणत कर दिया। जनता सूदखोरों (हमारे ही पालेपोसे पिशाचों) के पाश में जकड़ी गई, तालुकेदार शक्तिहीन हो गए, और भू-स्वामी तो बुरी तरह से उजड़ गए।[८९]

देशी राजाओं के अधीन भरतपुर के देशी राज्य की सम्पन्न स्थिति के बारे में विशप हैबर का कथन है: ''हालांकि यहां की भूमि रेतीली है और केवल कुओं द्वारा ही सिंचाई होती है, फिर भी यह प्रदेश उन सबमें से एक सर्वोत्तम खेती और सिंचाई वाला है जो भारत मे मैंने देखे है। सम्पन्नता का इससे पक्का सबूत क्या हो सकता है। कि मैंने अनेक चीनी के कारखाने और बहुत बड़े-बड़े खेत देखे, जिनमें गन्ने थोड़े समय पूर्व ही काटे गए थे। जनसंख्या अधिक प्रतीत नहीं हुई, परन्तु फिर भी जो थोड़े बहुत गांव हमने देखे उनकी स्थिति अच्छी और सुधरी हुई थी। कुल मिलाकर उद्योग धन्धों की एक शानदार तस्वीर बनती थी और ये सब कुछ उससे कहीं बहत श्रेष्ठ था, जो मुझे राजपूताना के बारे में बतलाया गया था या रुहेलखण्ड के दक्षिणी भागों छोड़ने के बाद जो मैंने कम्पनी के प्रदेश में देखा।''[९०]।

एक अन्य राज्य सतारा के शासक के महान चरित्र और राज्य की धनाढ्यता का प्रमाण तो स्वयं ब्रिटिश सरकार द्वारा महाराजा को लिखे १८४३ के एक पत्र द्वारा ही मिलता है। इस राज्य को भी केवल पांच साल के बाद ही अंग्रेजों ने अवैधानिक रूप से छीन लिया था। अंग्रेजों ने लिखा: ''ये नीतियां जो आप बुद्धिमत्तापूर्वक बराबर लागू करते आ

रहे हैं, आपके महान पद की शोभा के अनुकूल हैं और आपके राज्य की खुशहाली को बढ़ाने में बहुत उचित हैं। ये आपके महान चरित्र की द्योतक हैं जिससे हमें बहुत संतोष और प्रसन्नता होती है। अपने खर्चे पर अनेक महत्वपूर्ण सार्वजनिक हित के कार्यो का लागू करने की आपकी क्षमता से भी आपका प्रताप भारतीय जनता और शासकों की नज़रों में बढ़ गया है जो आपके लिए हमारे अनुमोदन, सम्मान और प्रसन्नता का एक और कारण है।[९१]

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि गरीबी तथा अमीरी तुलनात्मक शब्द हैं। ब्रिटिश पूर्व का भारत विश्व के किसी भी तत्कालीन देश या यूरोप से कहीं अधिक धनी था। यह भी सत्य है कि भारत में भी (सभी और अन्य देशों की तरह) सम्पत्तिगत विषमता काफी थी, यद्यपि शायद वह यूरोपीय देशों से कम थी। वास्तव में सम्पत्तिगत समता की धारणा तो बीसवीं सदी की उपज है। भारतवर्ष के प्रथम प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू का कथन बड़ा सटीक लगता है कि यूरोपीय जनता की सामान्य स्थिति एकदम पिछड़ी और दयनीय थी और तत्कालीन भारत की अवस्था की तुलना में बहुत गिरी हुई थी।[९२]

❑❑❑

दूसरा अध्याय

लूटमार का पहला दौर (१७५७ से १८१२ तक)

भारत की विजय से इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति सम्भव हो सकी, क्योंकि उस विजय से इंगलैंड को आवश्यक पूंजी और विस्तृत बाज़ार प्राप्त हो गये। अन्यथा मुख्यतः 'कृषिजीवी' इंगलैंड न तो 'विश्व की कर्मशाला' ही बन पाता और न ही दुनिया का सबसे धनी और शक्तिशाली राष्ट्र। मात्र आविष्कारों या नई तकनीकों को अपना लेने से किसी देश की अर्थव्यवस्था बदल नहीं सकती क्योंकि ''सिर्फ तकनीकें और आविष्कार तो बहुत महंगे पड़ते हैं। व्यक्ति कितना भी उद्यमशील क्यों न हो, इन्हें प्रयोग करने का साहस नहीं कर सकता, जब तक कि उसके हाथों में विशाल पूंजी और माल बेचने के लिए विस्तृत बाज़ार न हो।''[९३]

यही कारण है कि सन् १७५७ से पहले के आविष्कार इंगलैंड के लिए कोई उपयोगी सिद्ध नहीं हुए जबकि उसके बाद विकसित नई तकनीकों ने इंगलैंड के आर्थिक जीवन को बहुत अधिक प्रभावित किया, क्योंकि भारत ने इंगलैंड को 'अपार पूंजी' और 'विस्तृत बाज़ार' दोनों ही प्रदान किये।''

सन् १७५७ में बंगाल में ब्रिटिश शक्ति की विजय और साम्राज्य की नींव पड़ने के बाद क्या हुआ? वह विजय, जो विश्वासघात, कपट, धोखाधड़ी और विशाल डाकेजनी के बल पर ही हुई, और जो विलयम ब्लैक द्वारा प्रयुक्त शब्दों का अंशतः प्रमाण है कि 'राज्य द्वारा अनुज्ञापत्र प्राप्त जुआरियों और रण्डियों ने मिलकर इस देश (इंगलैंड) का भविष्य बनाया। ब्रिटिश साम्राज्य के जन्म-काल के सन्दर्भ में दो इतिहासकारों

के मत विचारणीय हैं–''स्पेन के कोरटेस और पिज़ारों के युग के (दक्षिणी अमरीका में) उन्माद के बाद अंग्रेजों की स्वर्ण–लालसा का कोई मुकाबला नहीं। विशेषतः बंगाल को तो शान्ति तब तक प्राप्त नहीं हुई, जब तक कि सतत रक्तस्राव से वह बिलकुल सफेद नहीं पड़ गया।[९६]

होरेस वालपोल ने कहा, अत्याचार और क्रूरदमन के ऐसे दृश्यों को देखकर किसका हृदय नहीं थर्रा उठेगा? हम स्वर्ण–लालसा में तो स्पेनियों और उसको प्राप्त करने की व्यवहार कुशलता में डचों के प्रतिरूप हैं।'[९७]

लॉर्ड मैकाले के बारे में एक अमेरिकी लेखक ब्रुक्स ऐडम्स का कथन है कि; ''भारत के नग्न शोषण के संबंध में मैकाले से बढ़कर कोई भी विश्वस्त सूत्र नहीं हो सकता।''[९८] प्लासी के युद्ध के बाद की स्थिति के बारे में वह लिखता है: 'धन की वर्षा कम्पनी और कम्पनी के नौकरों पर अब धुआंधार होने लगी। चांदी के सिक्कों के रूप में आठ लाख स्टलिंग मुर्शिदाबाद से फोर्ट विलियम (कलकत्ता) लाये गए। इस खजाने को लाने में ९०० से भी अधिक नावों का बेड़ा इस्तेमाल किया गया। जहां तक क्लाइव का प्रश्न था, उसके अधिग्रहण की कोई सीमा नहीं थी सिवाय उसके अपने संयम के। बंगाल का खजाना उसके सामने खुला पड़ा था।

क्लाइव सोने व चांदी के ढेरों में घूमता था और उसके ताज पर हीरे और माणिक्य जड़े थे। अपने लिए कितना भी धन लेने को वह स्वतंत्र था, दो से तीन लाख पौंड उसने अपने लिए स्वीकार किये।[९९]

१७७२ ई० में ब्रिटिश संसद के आगे पेश की गई सूची के अनुसार, सन् १७५७ से १७६६ तक के दस वर्षों के भीतर भारत के

निवासियों से 'उपहार' के रूप में अंग्रेज़ों ने ६,०००,०००* पौंड ऐंठे। क्लाइव तथा कम्पनी के अन्य नौकर 'बेईमानी, चोरी और लज्जाजनक[१००] तरीकों से लूटा हुआ बेतहाशा धन बटोर कर इंगलैंड लौटे। इस लूटमार के बाद क्लाइव 'इंगलैंड के चोटी के सेठों से प्रतिस्पर्धा करने लगा। प्रचुर मात्रा में नकद धन के अतिरिक्त, उसके पास भारत में एक जागीर थी, जिसका मूल्य २,००० पौंड वार्षिक आय के रूप उसने स्वयं आंका था।'[१०१]

बहुत सारे उदाहरणों में से कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं, जिनसे पता लगता है कि किस तरह से कम्पनी के कर्मचारियों ने अपनी निजी हैसियत में भी भारतीयों को लूटा-खसोटा। सिर्फ साढ़े तीन वर्ष तक कम्पनी की नौकरी करने के बाद, जब मैकॉले घर लौटा तो २५,००० पौड साथ ले गया। 'कम्पनी का एक और कर्मचारी बारबैल बेहद जुआरी था और एक ही बैठक में ४०,००० पौंड हार भी गया था फिर भी जब छः वर्ष बाद इंगलैंड लौटा तो ८०,००० पौंड लेकर लौटा।[१०२] मद्रास के गवर्नर पिजौट ने १९ वर्ष में कर्नाटक के नवाब से १,२००,००० पौंड रिश्वत ली; और विच जैसे संयमी ने भी २००,००० पौंड हथियाए।[१०३] यहाँ तक कि यॉर्क के महाधर्माध्यक्ष (आर्चबिशप)

---

* *''पाठक इस बात का सदा ध्यान रखें कि उस समय धन का मूल्य काफी अधिक होगा। निश्चित तौर से इसकी गणना नहीं की जा सकती, परन्तु एक अंग्रेज लेखक जॉन स्ट्राची के अनुसार, जिसने १७५० और १९५० के पौंड की क्रम-शक्ति की तुलना की है:''कम से कम ९० का गुणक उचित है।'' वर्तमान समय में यह सौ गुने से भी अधिक है। इसका अर्थ है कि इस महान लूट का कुछ अनुमान लगाने के लिए तथा दूसरे और आंकड़ों को, कम से कम दस से गुणा करना चाहिए। अमरीकी पाठक इसको डालर और अंग्रेजी पौंड की विनिमय दर से और गुणा करें।''*

तथा अन्य ईसाई पादरी भी इस लूट में किसी से पीछे नहीं थे। बनारस के रेजीडेंट अपने पुत्र को वार्षिक ३०,००० पौंड रिश्वत बनाने का अवसर देने के लिए यॉर्क का आर्चबिशप गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स का बड़ा कृतज्ञ था।[१०४] इन ईसाई–सेवियों का असली मन्तव्य उनमें से एक के कथन से मिलता है: ''भारत जाने वाले जहाजों पर पुरोहित (चैपलेन) बनकर जाने का मैं अत्यधिक उत्सुक हूं। वेतन तो केवल ४० पौंड ही है, लेकिन अतिरिक्त लाभ बहुत हैं । अन्तिम पुरोहित ३००० पौंड लेकर घर लौटा था।[१०५] अत:, कोई आश्चर्य नहीं कि ''कम्पनी के निदेशक तथा उनके सगे सम्बन्धी, इंगलैंड के लॉर्ड, और यहां तक कि राजघराने के लोग भी चाहते थे कि अपने किसी नवयुवक मित्र या आश्रित को सिफारिश से कम्पनी की नौकरी दिलवाई जाये, जोकि उसको बहुत ही थोड़े समय में अत्यधिक धनी बना सकेगी।[१०६] अंग्रेजों के लिए भारत में लगभग हर विजयी लड़ाई के बाद ऐसी ही लूटमार करना एक साधारण बात थी। इससे पाठक यह कल्पना कर सकते हैं कि केवल इस माध्यम से ही न जाने कितना नकद रुपया या उस जैसी बहुमूल्य संपत्ति भारत से इंगलैंड लूट कर ले गया।

अंग्रेज़ी शासन के कुछ ही वर्षों बाद, बंगाल की स्थिति के बारे में मैकॉले लिखता है कि, ''कुछ समय तक तो बंगाल से हर जहाज़ बुरा समाचार लेकर लौटता था। लूटमारी और बेहद आन्तरिक गड़बड़ी के बाद एक बार तो ऐसा लगने लगा कि शायद ही सरकार चल पाये। अंग्रेज़ी कुशासन के कारण ऐसा लग रहा था कि समाज का मानो अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया है। अंग्रेज़ों ने उस रोम के प्रशासक को भी अब मात कर दिया जो एक या दो वर्षों में प्रान्त का प्रान्त लूटकर कम्पेनिया के तट पर संगमरमर के महल और स्नान कुंड बनवाता था, जो हीरों के प्यालों में शराब पीता था और चहचहाते पक्षियों का भक्षण

करता था, ग्लैडियेटर पक्षी समूह और ज़िर्राफों का प्रदर्शन करता था। अंग्रेज़ों ने उस स्पेन के वाइसराय को भी मात कर दिया जो मैक्सिको और लीमा की आहों और कराहों को पीछे छोड़ वहां से लूटे हुए सोने से मढ़े रथों के जुलूस में और वहां लूटी गई चांदी के साज से सुसज्जित घोड़ों सहित मैड्रिड में धूमधाम के साथ प्रवेश करता था...कम्पनी के कर्मचारियों ने, कम्पनी के लिए नहीं, बल्कि अपने लिए लगभग सारे भीतरी व्यापार का एकाधिकार प्राप्त कर लिया। भारतवासियों को उन्होंने महंगी चीजें खरीदने और सस्ती चीजें बेचने पर मजबूर कर दिया। अदंड्य होकर, वे प्रतिष्ठित देसी राजस्व पदाधिकारियों तथा पुलिस आदि का भी अपमान करते थे। अंग्रेज़ों ने बहुत शीघ्र कलकत्ता में बहुत बड़े पैमाने पर विशाल धन एकत्र कर लिया और दूसरी ओर तीन करोड़ जनता को गरीबी की भट्ठी में धकेल दिया था ''अंग्रेज़ी सरकार जो महा अत्याचारी, जंगली तानाशाही से भी बढ़कर क्रूर दमनकारी थी, औद्योगिक सभ्यता की संपूर्ण पाशवी शक्ति पर खड़ी थी।[१०७]

एक प्रसिद्ध अमेरिकी राष्ट्रपति के भाई ब्रुक्स ऐडम्स ने अपनी प्रख्यात पुस्तक 'लॉ ऑफ सिविलाइजेशन ऐंड डीके' में, जिसकी मान्यता 'अमेरिकी विचारों की स्थायी शास्त्रीय कृति' और 'अमेरिका ही नहीं सम्पूर्ण पश्चिमी बौद्धिक इतिहास के दुर्लभ दस्तावेज' के रूप में स्वीकृत है, कहा है: ''करोड़ों लोगों की सदियों से संचित धन-सम्पत्ति को अंग्रेज़ बड़े कूटनीतिक ढंग से लूटकर लन्दन ले गये, जैसे कि यूनानी और पौनटस लोगों की सम्पत्ति को रोमन लोगों ने हड़पा था। कोई भी उस खज़ाने का मूल्य आंक नहीं सकता, परन्तु यह कई करोड़ पौंड से कम नहीं होगा, जोकि उस समय यूरोपीयों के सारे बहुमूल्य धातुओं के अनुपात में कही बहुत विशाल रहा होगा।[१०९]

ऐडम्स यह भी बताता है कि किस प्रकार भारतीय पूंजी से ही इंगलैंड में औद्योगिक और कृषि क्रान्तियां सम्भव हुई।

''भारतीय खजाने के आगमन द्वारा इंगलैंड की कुल राष्ट्रीय धन पूंजी में अपरिमित वृद्धि के कारण न केवल उसकी शक्ति के भण्डार में ही वृद्धि हुई अपितु उसकी विकासशीलता और गति में भी अद्भुत तीव्रता आई।

''प्लासी युद्ध के तुरन्त बाद बंगाल का लूटा हुआ धन लन्दन पहुंचने लगा, जिसका प्रभाव तत्काल पड़ा, जैसा कि सब विद्वानों का मत है कि 'औद्योगिक क्रांति' की शुरुआत सन् १७६० से हुई। प्लासी का युद्ध १७५७ में हुआ और इंगलैंड की अवस्था में जितनी शीघ्रता से परिवर्तन १७५७ के बाद आया उतना शायद पहले कभी भी नहीं आया था। उड़न-ढरकी (फ्लाईंग शटल) १७६० में बनी और धातु को पिघलाने के लिए लकड़ी के स्थान पर कोयले का प्रयोग होने लगा। १७६४ में हरग्रीब्ज ने कताई मशीन का आविष्कार किया। १७७६ में क्रॉम्पटन ने तकली पर धागा चढ़ाने का उपाय निकाला। १७८५ में कार्टराइट ने शक्ति से चलने वाली खड्डी का निर्माण किया, और १७६८ में वॉट ने भाप के इंजन को परिपक्व किया, जो शक्ति को केन्द्रित करके प्रयोग करने वाला सबसे बड़ा आविष्कार था। यद्यपि इन मशीनों ने उस समय की बढ़ती हुई गतियों को अभिव्यक्ति दी, ये मशीनें उन गतियों का कारण नहीं थीं। अपने आप में आविष्कार निष्क्रिय होते हैं, अति महत्त्वपूर्ण आविष्कारों में से भी अधिकतर शताब्दियों तक निष्क्रिय पड़े रहे, क्योंकि उनको सक्रिय करने के लिए किसी बाहरी शक्ति की आवश्यकता थी। धन में ही ऐसी शक्ति हो सकती है, और धन भी जोडा हआ नहीं, गतिशील धन।

''भारतीय खजाने के आगमन और उसके कारण साख के विस्तार से पूर्व, कोई भी बाहरी शक्ति अस्तित्व में नहीं थी। यदि जेम्स वाट ५० वर्ष हुआ होता तो उसका आविष्कार भी उसके साथ ही समाप्त हो गया होता।

''नयी शक्ति के प्राप्त होने से कृषि और उद्योग दोनों में ही नई स्फूर्ति आई। आर्थर यंग ने १७७० में लिखा कि इन दस वर्षों में ही इतने आविष्कार हुए और कृषि तथा उद्योग क्षेत्र में इतनी प्रगति हुई कि विगत १०० वर्षों में भी इतनी प्रगति नहीं हुई थी और ऐसा होने का जो कारण था वह स्पष्ट था। सन् १७६० के बाद एक संश्लिष्ट धन-शक्ति की प्रणाली का अचानक विकास हुआ, जो धात्विक खजाने के भण्डार पर आधारित थी। जो लोग ऋण ले सकते थे, उनके पास पशुओं की बढ़िया नस्लों का आयात करने, खेतीबाड़ी को सुधारने और सोहो की ही तरह की फैक्ट्रियों को स्थापित करने के लिए सब साधन थे।...प्लासी के कारण आई सामाजिक क्रान्ति का अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में नई भूमि की (इंगलैंड में) व्यापक जोत से बढ़कर कोई उदाहरण नहीं हो सकता। संसार के आरम्भ होने से अब तक शायद ही किसी को इतना लाभ हुआ होगा, जितना कि ब्रिटेन को भारत की लूट से क्योंकि लगभग ५० वर्षों तक विकास में ब्रिटेन का कोई प्रतिद्वन्दी नहीं था।''[११०]

केवल बंगाल ही नहीं, दक्षिणी भारत में मद्रास पर भी कम्पनी का शासन था, जहां अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कम्पनी के नौकर बंगाल के मुकाबले में हर प्रकार से अधिक भ्रष्टाचारी और नीच थे। ''लगभग पचास वर्षों तक कर्नाटक की सरकार इतनी बेईमान और भ्रष्टाचारी थी कि बंगाल का सबसे बुरा समय भी इससे अच्छा था।''[१११]

अधिक विस्तार में जाने के स्थान पर इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि ऐसे गन्दे प्रशासन से मद्रास की अर्थव्यवस्था एकदम बुरी तरह से प्रभावित हुई।[११२] ब्रिटिश संसद के सदस्य विलयम डिग्बी सी० आई० ई० ने १९०१ में अपने बृहद् ग्रन्थ में लिखा, ''इंगलैंड की औद्योगिक प्रधानता का कारण बंगाल और कर्नाटक की बृहद सम्पदा थी।...भारतीय सम्पदा का इंगलैंड द्वारा शोषण और ब्रिटेन के उद्योगों के तेजी से विकास में सम्बन्ध केवल संयोग नहीं था, बल्कि सुनियोजित योग था।...इस प्रकार, इंगलैंड की असीमित सम्पन्नता का मूल कारण उसका भारत से सम्बन्ध ही था, और मुख्यतः इसी सम्बन्ध के कारण ही इंगलैंड अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आज तक छिपे ढंग से अपनी सम्पन्नता को बनाये रख सका।[११३]

मुगलों ने अंग्रेजों को भारत से बिना कर के सामान लाने और ले जाने की खुली छुट्टी दे रखी थी, परन्तु आन्तरिक व्यापार में हस्तक्षेप का उन्हें तनिक भी अधिकार नहीं था। परन्तु बंगाल का स्वामी बनते ही, अपनी राजनीतिक शक्ति का लाभ उठाकर कम्पनी और उसके कर्मचारियों ने* स्थानीय बाजारों में भी बिना कर दिये भी व्यापार करना आरम्भ कर दिया जो देशी व्यापारियों को देना पड़ता था। अतः अब भारतीय बाजारों में अंग्रेज़ व्यापारी अपना सामान भारतीय व्यापारियों की अपेक्षा सस्ता बेचते थे। यह भारतीय व्यापारियों पर केवल एक हमला ही नहीं था, सरासर एक डकैती थी। यही नहीं उन्होंने देश की लगभग सभी वस्तुओं के उत्पादन पर एकाधिकार प्राप्त कर लिया,

---

***** क्लाइव और कम्पनी के अन्य प्रमुख कर्मचारियों ने मिलकर, जिनमें एक ईसाई पुरोहित (चैपलेन) भी शामिल था, अपना स्वयं एकाधिकार व्यापार पर जमा लिया जो, ''एकातिक साझेदारी बहुत से घिनौने जुर्मों के लिए जिम्मेदार थी।***

जिनमें तम्बाकू, कपड़ा, नमक, सुपारी जैसी आवश्यकता की चीजें भी शामिल थीं। इस एकाधिकार का परिणाम यह हुआ कि भारतीय उद्यमियों को अपनी उत्पादित वस्तुएं कम्पनी द्वारा निर्धारित कम से कम मूल्य पर बेचनी पड़ती थीं। दूसरी तरफ कम्पनी स्वयं अधिक से अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से अपनी वस्तुओं को महंगी से महंगी कीमत पर बेचती थी। ऐसा करते हुए तरह-तरह के हथकंडे अपनाये जाते थे, जो केवल क्रूर ही नही थे अपितु जिनका प्रभाव भी भारतीयों पर बहुत बुरी तरह से पड़ा। अनेक.. व्यापारी 'बिल्कुल उजड़ गये। आम आदमी को अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए पर्याप्त खर्चा करना पड़ता था। लाखों मनुष्य मर रहे थे, और कठपुतली नवाब की आय भी बहुत घट गई थी। १७७२ में समकालीन विलियम बोल्ट्स ने लिखा, ''बंगाल में व्यापार की बिलकुल भी स्वतंत्रता नहीं है। भारतीय आन्तरिक व्यापार की प्रत्येक शाखा निरपवाद रूप से इस सबसे अधिक क्रूर और तबाह करने वाली प्रवृत्ति की शिकार हो चुकी है। समूची व्यापारिक व्यवस्था ही अपने अन्तिम दिन गिन रही है। समाज में न्याय नाम की कोई वस्तु बच नहीं पाई है, ऐसे चन्द अंग्रेज लोगों की कृपा पर जो जनता को खूब लूट रहे हैं, लाखों का जीवन निर्भर है। ऐसी तानाशाही के कारण, जिसे सैनिक हिंसा का समर्थन प्राप्त है, सारा बंगाल देश बिल्कुल उजड़ गया है। ऐसी स्थिति में जबकि देशी शिल्पियों का अकल्पनीय दमन हो रहा है, जनसंख्या घट रही है और उद्योग तथा सरकारी आयकर बरबाद हो गया है।''[११४]

कम्पनी के निर्देशकों द्वारा कम्पनी के कर्मचारियों को भेजे गए २४ दिसम्बर १७६५ के एक पत्र में लिखा था, ''तुम्हारी कार्यवाहियों के अध्ययन से हमें पता लगा है कि भारत के आन्तरिक व्यापार में

हस्तक्षेप करने के लिए अत्यधिक क्रूरता व दमन के तरीके अपनाये गए हैं। नमक, सुपारी और तम्बाकू के व्यापार से सदा अपना गुजारा चलाने वाला गरीब, यूरोपीयों के व्यापारिक तरीकों के कारण अपनी रोटी से भी वंचित हो चुका है।[११५]

एक दूसरे पत्र में निर्देशकों ने ''अपने नौकरों की बेईमानियों, लूटमारों तथा अपने सारे राज्य में सर्वव्यापक चरित्रहीनता'' पर खेद प्रकट किया है और लिखा है कि ''...हमारा विचार है कि आन्तरिक व्यापार में जो विशाल सम्पत्ति बनाई गई है वह ऐसे महा अत्याचारी और क्रूर तरीकों से प्राप्त की गई, जो किसी भी काल या देश में कभी भी नहीं देखे गये।[११६]

लॉर्ड मैकॉले ने लिखा, ''बंगालियों व अंग्रेजों के बीच युद्ध भेड़ों व भेड़ियों या मनुष्यों और दैत्यों के बीच की लड़ाई के समान था।...कम्पनी के नौकरों का यही काम था कि किसी न किसी तरीके से शीघ्रातिशीघ्र देशियों से लाख-दो लाख पौंड निचोड़े जाएं।[११७]

भारतवर्ष की घटनाओं पर बहुत वर्षों तक बर्क का अध्ययनशील ध्यान रहा। [११८] उसने इन 'भेड़ियों' या 'दैत्यों की तुलना औरंगोटंग' या चीतों से की है।[१७८] में उसने कहा, ''युग की धन-लोलुपता से सक्रिय और यौवन से उतावले हुए हमारे (अंग्रेजों के) नवयुवक बाढ़ बनकर भारत आये। शिकारी एवं लड़ाकू पक्षियों के नये-नये प्रहारों के अलावा निराशातीत देशियों के सामने उन्होंने किसी और सम्भावना को रहने ही नहीं दिया...यदि हम को भारत से आज निकाल दिया जाए, तो कोई भी ऐसी चीज़ हम वहां छोड़कर नहीं आयेंगे जो यह बतला सके कि हमारा शासन औरंगोटंगों या चीतों से कुछ बेहतर था।[२१८]

बंगाल के सारे आन्तरिक व्यापार पर एकाधिकार के बारे में विलियम बोल्ट्स लिखते हैं कि, ''इसको लागू करने के लिए अपनाये गए कल्पनातीत दमन और कठोरता के कारण गरीब देशी उत्पादक और कामगार अंग्रेज़ों के वास्तव में एक प्रकार से गुलाम हो गये हैं। गरीब जुलाहों के दमन के अनेक असंख्य तरीके अपनाये जाते हैं जैसे जुर्माना, कैद, कोड़े, बंधुआ मजदूरी आदि हथकंडों से देश में जुलाहों की संख्या बहुत कम हो गई है। इन सबका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ। कि औद्योगिक उत्पादन कम, महंगा और घटिया होने लगा है और साथ ही सरकार की आय भी बहुत कम हो गई है।[११९]

बोल्ट्स का कथन है कि ''देशियों को केवल कम्पनी के लिए ही काम करने को बाध्य करने हेतु अंग्रेजों ने 'समाज के अति पवित्र नियमों को तोड़कर' महाघृणित तरीकों को अपनाया। कारीगरों को रेशम बुनने को बाध्य करने के लिए एक अत्याचार था उनके अंगूठों को काट देना या अपहरण करना, कोड़े मारना इत्यादि।[१२०]

इन 'राक्षसों' ने न केवल भारत के आन्तरिक व्यवसाय में हस्तक्षेप किया अपितु विदेशी सौदागरों को बंगाल में आने से रोक कर फलते-फूलते विदेशी व्यापार को भी समाप्तप्राय कर दिया। परिणामस्वरूप, यह समूचा लाभदायक व्यवसाय अब और कहीं चला गया,और शायद सदा के लिए यहां से समाप्त हो गया।[१२१]

खेती-बाड़ी भी इनसे बची न रही। बोल्ट्स के शब्दों में किसान, जो प्रायः भूमिदार और उद्योगपति दोनों ही होते हैं, (कम्पनी के) गुमाश्तों द्वारा चीजों के लिए दण्डित तथा पीड़ित किए जाते हैं, जिनके कारण वे प्रायः अपनी भूमि को सुधारना तो दरकिनार, कर तक भी नहीं दे सकते। कर न दे सकने के कारण दोबारा फिर उनको मालगुजारी के पदाधिकारी दंड देते हैं।

परिणामतः इन 'पिशाचों' के दुष्कृत्यों से बाध्य होकर, कर देने के लिए बहुधा उन्हें अपने बच्चों को बेचना पड़ता है या देश छोड़कर भाग जाना पड़ता है।[१२२]

उच्च ब्रिटिश अधिकारियों की, जो स्वयं इन स्थितियों के लाने में जिम्मेदार थे, कुछ टिप्पणियां कम्पनी के निर्देशकों को लिखे पत्र में लॉर्ड क्लाइव ने बंगाल के बारे में लिखा, ''मैं केवल इतना कहूंगा कि ऐसी अराजकता, अनिश्चितता, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार और शोषण का ऐसा वातावरण बंगाल के अनिश्चितता न कहीं सुना है और न ही कहीं देखा है; न ही इतनी शीघ्र और इतनी बड़ी मात्रा में अन्यायपूर्ण ढंग से किसी और देश की सम्पत्ति लूटी गई है।[१२३]

२ अप्रैल १७८४ को लखनऊ से लिखे कौंसिल बोर्ड के नाम एक पत्र में तत्कालीन भारत के ब्रिटिश गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्ज ने लिखा, ''बक्सर के सीमांत से लेकर बनारस तक असंतुष्ट और निराश निवासियों की फरियादों को ही सुनता-सुनता थक गया।'' यह कहते मुझे खेद होता है कि बक्सर से लेकर दूसरे छोर तक प्रत्येक ग्राम में सर्वनाश के अतिरिक्त मैंने और कुछ भी नहीं देखा।[१२४]

यह बात स्मरणीय है कि बनारस की यह स्थिति वहां के शासक को अत्याचारी ढंग से गद्दी से वंचित करने के केवल तीन वर्ष बाद ही, वारेन हेस्टिंग्ज और उसके नीचे काम करने वाले अंग्रेज़ लोगों ने स्थापित कर दी थी। ब्रिटिश शासन के ३२ वर्ष बाद १७८९ में एक अन्य गवर्नर-जनरल लॉर्ड कार्नवालिस ने कहा, ''मैं यह बात निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि हिन्दुस्तान में कम्पनी के कुल राज्यक्षेत्र का एक तिहाई भाग अब जंगल बन गया है, जहां केवल जंगली पशु ही रहते हैं।[१२५]

ऐसी दुष्ट नीतियों को स्वाभाविक परिणाम १७७०-७१ का जबरर्दस्त अकाल था जिसने बंगाल को इतने भयानक रूप से तबाह कर दिया कि जिसकी मिसाल और कोई कहीं भी नहीं मिलती।[१२६] फिर भी कम्पनी का कर, उसकी अपनी ही रिपोर्ट के संयत शब्दों में 'हिंसात्मक' तरीकों से सारे का सारा वसूल किया गया।

अंग्रेज़ी शासन से पहले, पूर्व को निर्यात करने के लिए यूरोप के पास सोने-चांदी के अतिरिक्त लगभग कुछ भी न था। जैसा कि डॉ० एल० सी० ए० नोल्ज का कहना है, ''पूर्व के साथ व्यापार करने में यूरोप की सबसे बड़ी कठिनाई यही थी कि यूरोप के पास कुछेक चीज़ों के अतिरिक्त जिनकी पूर्व में मांग थी, कुछ भी निर्यात करने योग्य वस्तुएं नहीं थी। वह चीजें थीं दरबार के लिए कुछ विलास वस्तुएं, सीसा, तांबा, पारा, मूंगा, टिन, सोना और हाथीदांत। इन चीज़ों के अतिरिक्त चांदी की खपत भारत में थी। इसलिए मुख्यतः चांदी इंगलैंड से बाहर भेजी जाती थी।''[१२७]

परन्तु, ब्रिटिश राज्य की स्थापना के बाद यह न केवल समाप्त, बल्कि उलट दिया गया। अब अंग्रेज़ भारत की चीजें, अपने पैसे से नहीं बल्कि कर द्वारा एकत्रित भारतीय राजस्व में प्रमुख भाग से खरीदते थे और उनको काफी लाभ पर भारत और यूरोप सहित अन्य देशों में बेचते थे। कम्पनी द्वारा भारत में ऐसी खरीद को 'लागत' कहा गया। इस प्रकार की लागत के बारे में १७८३ में (ब्रिटिश) लोक-सभा की प्रवर समिति ने कुछ प्रकाश डाला, ''बंगाल के राजस्व का एक निश्चित भाग अनेक वर्षों से उन वस्तुओं की खरीद पर लगाया जाता हैं, जिन्हें इंगलैंड को निर्यात किया जाता है और इस प्रकार की खर्ची गई आय को 'लागत' कहा गया। प्रायः इस निवेश की विशालता से कम्पनी के प्रमुख नौकरों की योग्यता मापी जाती थी; और भारत की दरिद्रता के

प्रमुख कारण को वहां की सम्पन्नता और खुशहाली का प्रायः नाप समझा जाता रहा है।...परन्तु वास्तव में यह, भारत के लाभ के लिए व्यापार नहीं बल्कि उसका इंगलैंड को खिराज़ है।'' ''यदि बंगाल और इंगलैंड के इस सम्बन्ध को (इसको व्यापार नहीं कहा जा सकता) सही रूप से नापा जाए तो इस लागत के घातक परिणाम सामने आ जाते हैं। उस देश के सारे निर्यात के बदले में किसी प्रकार की अदायगी या वस्तुएं वहां नहीं भेजी जातीं।''[१२८]

इस तथाकथित लागत को कुछ आंकड़ों की सहायता से और स्पष्ट किया जा सकता है। १७७३ में ब्रिटिश संसद के सामने पेश की गई कम्पना की रिपोर्ट में कहा गया कि बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त करने के छः वर्षों के भीतर कुल आय १३,०६६,७६ पौंड हुई, कुल खर्चा ९,०२७,६०९ पौंड हुआ और शेष राशि ४,०३७,१५२ पौंड बचा।[२९] इस बची धनराशि से वस्तुएं खरीदकर इंगलैंड भेजी गई। यह धनराशि कम्पनी के नौकरों द्वारा गलत तरीकों से बनाई गई बहुत बड़ी धनराशि के अतिरिक्त थी। प्रायः सभी प्रकार की धनराशियां किसी न किसी रूप में इंगलैंड ही जा रही थीं, क्योंकि प्रायः सभी प्रकार की खरीद भी इंगलैंड से ही की जाती थी। दूसरे शब्दों में ''बंगाल से इंगलैंड जाने वाली सम्पत्ति उपर्युक्त आंकड़ों से कहीं अधिक थी। विदेश जाने वाली सम्पत्ति का अनुमान राज्यपाल वियरलिस्ट के द्वारा संकलित सन् १७६६-६७ और ६८ के आयात-निर्यात के आंकड़ों से लगाया जा सकता हैं उसके अनुसार भारत से ६,३११,२५०१३० पौंड का निर्यात और केवल ६,२४३,७५ का आयात किया गया, जिसका अर्थ था कि जितना निर्यात भारत से किया गया उसका केवल १/१० भाग ही उसे वापिस मिला (यह 'दानवी शोषण' प्रति वर्ष चलता रहा जैसे कि आगे बताया जायेगा। सामान्य व्यापार के आधार पर तो भारत को ब्रिटेन से

सोना-चांदी आदि लेना चाहिए था, परन्तु यह अजीब विरोधाभास था कि आयात करने के स्थान पर भारत न केवल अनेक वस्तुए, अपितु सोना चांदी भी बहुत बड़ी मात्रा में निर्यात करता था। यह तब तक चलता रहा, जब तक कम्पनी अपनी आवश्यकतावश सोना-चांदी इंगलैंड से भारत भेजने लगी। सर जॉन शोर (बाद में लार्ड टेनमाउथ) द्वारा १७८७ में दिए गए बंगाल संबंधी बयान से सोने-चांदी के निर्यात के बारे में कुछ पता चलता है, ''बंगाल से गत २५ वर्षों में सोना-चांदी काफी निर्यात हुआ, विशेष रूप से गत १० वर्षों में...! व्यक्तिगत रूप से भी लोग सोना-चांदी यूरोप भेजते हैं। इस सभी सम्पत्ति की गिनती नहीं की जा सकती, परन्तु कम्पनी को दिवानी मिलने के बाद से यह अवश्य बहुत अधिक रही होगी।[१३१] भारत की इस अपार हानि और अंग्रेजों द्वारा लूटी गई धन-सम्पत्ति के प्रसार के बारे में जिसके कारण इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति हई, उनका कथन है कि, ''५००,०००,००० पौंड से लगभग १००,०००,००० पौंड तक के अनुमान लगाए गए हैं। सम्भवत: प्लासी (१७५७) और वाटरलू (१८१५) के बीच तक भारत से इंगलैंड के बैंकों में उपर्युक्त राशि भेजी गई।''[१३२]

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि वाणिज्यवाद (अर्थशास्त्र का एक सिद्धांत) के प्रभाव के अन्तर्गत १७५७ से पहले कम्पनी द्वारा इंगलैंड से भारत को सोना-चांदी भेजना बहुत खलता था। किसी भी प्रकार कम्पनी इस सोने-चांदी के निर्यात को रोकना चाहती थी। साथ ही भारत से कपड़ा तथा अन्य वस्तुएं खरीदना भी चाहती थी ताकि यूरोप ले जाकर बेचे और खूब लाभ कमाए। अंग्रेजों के हाथ में सत्ता आ जाने पर बंदूकों के बल पर अंग्रेज़ों का मंतव्य हल हो गया जैसा कि प्रख्यात ब्रिटिश राजनेता ग्लैडस्टोन कहता है। हमारा कानून और युक्ति केवल बल प्रयोग ही है जिससे हम युक्त हैं और जिसका हम प्रयोग करते हैं।[१३३]

ब्रिटेन के लिए भारत की आर्थिक उपयोगिता सन् १८१२ ई० तक भारत से अधिकाधिक पूंजी को लूट कर अपने देश पहुंचाना ही था जैसा कि १८१२ की कम्पनी की अपनी ही रिपोर्ट में स्पष्ट किया गया है: ''इस (ब्रिटेन) देश के लिए, अपने विशाल साम्राज्य की उपयोगिता इसी बात पर निर्भर है कि वह हमारे देश की सम्पत्ति और पूंजी के भण्डार में वार्षिक रूप से कितनी वृद्धि करता है, न कि इससे कि हमारे उद्योगपतियों को भारतीयों की खपत से कितना लाभ होता है।[१३४]

❑❑❑

तीसरा अध्याय

लूटमार का दूसरा दौरः १८१२-१९१४

सन् १८१२ के बाद भारत का आर्थिक शोषण एक नए दौर में प्रवेश करता है जो १९१४ तक निर्बाध गति से चलता रहा। यह दौर अपेक्षाकृत पहले से बहुत अधिक भयानक था, क्योंकि इस काल में पहले काल की लूटमार तो जारी रही ही, साथ ही एक महान् औद्योगिक एवं कृषि प्रधान देश को केवल एक गरीब कृषिजीवी देश के रूप में परिणत कर देने का कुचक्र भी चला।

इंगलैंड में १९ वीं, शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति तीव्र गति से जोर पकड़ रही थी। इंगलैंड को अब ऐसे देशों की तलाश थी जहां वह अपनी औद्योगिक चीज़ों को बेच सकता और कच्चा माल खरीद सकता। भारत एक घातक निशाना बन गया किन्तु यह तभी सम्भव था जबकि भारत के उद्योगों को नष्ट कर देश को मात्र कृषिजीवी बना दिया जाता, ताकि भारत ऐसी वस्तुएं . उपजाता जिनकी इंगलैंड की फैक्ट्रियों को आवश्यकता थी, जैसे कि कपास, पटसन, नील आदि। कम्पनी के अधिकार-पत्र के नवीकरण और उसके एकाधिकार को समाप्त करने से पहले उसी वर्ष १८१३ की संसदीय जांच की कार्यवाहियों से यह बहुत स्पष्ट है।

१८१३ की ब्रिटिश संसद में, वहां के उद्योगपतियों का प्रभुत्व था जो भारत को उत्पादित वस्तुओं और कच्चे माल की बहुत बड़ी मण्डी समझते थे। भारत के इस शोषण से पहले उनके लिए यह अनिवार्य था कि कम्पनी के एकाधिकार को समाप्त किया जाय। इसलिए उत्पादकों तथा अन्य विरोधियों ने मिलकर कम्पनी के विरुद्ध पर्याप्त प्रचार किया जिससे इसके द्वारा की जा रही भारत की लूट का पर्दाफाश करने वाला विशाल साहित्य निर्माण हुआ। परिणामतः १८१३ में कम्पनी के व्यापार

का एकाधिकार समाप्त कर दिया गया, ताकि केवल एक ही नहीं, बल्कि सभी भारत का रक्त चूस सकें।

यह पहले बताया जा चुका है कि किस प्रकार इंगलैंड ने भारत से वस्तुओं के आयात का भारी कर लगाये, जो समय-समय पर बढ़ाए जाते रहे और जो अन्ततः 'बहुत भारी' कर दिये गए। उदाहरणार्थ, १८१३ में १०० पौंड मूल्य के सफेद सूती कपड़े पर ८५ पौंड, २ शिलिंग और एक पैंस और नानकीन तथा मलमल पर ४४ पौंड ६ शिलिंग ८ पैंस कर लगाया गया। रंगीन माल पर तो पूर्णतः प्रतिबन्ध लगा दिया गया।[१३५] इसके विपरीत १८१९ में १०० पौंड की भारतीय रुई पर केवल ६ शिलिंग (एक पौंड-२० शिलिंग) और ३ पैंस का आयात कर था।[१३६]

जो केवल मात्र राजस्व के लिए ही लगाया गया था। दूसरी ओर, ब्रिटिश उत्पादित वस्तुओं के भारत में निर्यात पर नाममात्र का उतना ही कर था जिससे कि वैदेशिक व्यापार विभाग का प्रशासन व्यय लगभग चल सके। ब्रिटिश जहाज़रानी कानूनों के अन्तर्गत,भारतीय उत्पादकों को किसी और देश में भी निर्यात करने की अनुमति नहीं थी। इस संरक्षक तथा निषेधक करों, नियमों और राज्य की सहायता के बिना इंगलैंड का कपड़ा उद्योग अपने प्रारम्भिक दिनों में कदापि विकसित न हो पाता, यद्यपि यह उद्योग भाप के इंजन से परिचालित था, और जबकि उसके मुकाबले में भारतीय उद्योग और कुटीर उद्योग था जो उत्पादन का ढंग औद्योगिक क्रांति से पहले विश्वभर में प्रचलित था। एक प्रख्यात इतिहासकार एच० एन० विलसन ने लिखाः १८१३ में गवाही दी गई कि उस समय तक भारत का सूती और रेशमी कपड़ा बिट्रेन के बाजारो में इग्लैंड के बने कपड़े से ५० से ६० प्रतिशत कम कीमत पर भी लाभ के साथ बेचा जा सकता था अतः इग्लैंड के कपड़ा उद्योग के संरक्षण के लिए भारतीय माल पर ७० और ८० प्रतिशत कर लगाना, या बिलकुल ही उन्हें आने से रोक देना, आवश्यक हो गया।

यदि ऐसा न किया गया होता और ऐसे निषेधक कर तथा नियम न बनाये गए होते, तो पैसली और मानचेस्टर के कारखाने आरम्भ में ही बन्द कर दिये गए होते और फिर उनको भाप की शक्ति, बरतने के बावजूद भी, शायद ही कभी काम में लाया गया होता। ये उद्योग भारतीय उद्योगों की बलि चढ़ाकर ही खड़े किये गए। यदि भारत स्वतन्त्र होता, तो इसका बदला लेता और अपने उद्योगों को समाप्त होने से बचाने के लिए संरक्षण कर इत्यादि लगाता। परन्तु आत्मरक्षा का अधिकार भारत को प्राप्त नहीं था, वह तो विदेशियों के रहम पर था। भारत पर विदेशी माल बिना किसी कर के थोपा गया और विदेशी उद्योगपतियों ने अपने प्रतिद्धन्द्धी को, जिसकी बराबरी वे नहीं कर सकते थे, नीचा दिखाने और अन्ततः उसको समाप्त करने के लिए अन्यायपूर्ण राजनीतिक शक्ति का पूरा उपयोग किया।[१३७]

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भी भारतीय वस्तुओं पर यह भेदभावपूर्ण और निषेधक कर व नियम लागू रहे यद्यपि ब्रिटेन में भारतीय कपड़े का आयात बहुत घट गया था और ब्रिटेन के कपड़े का भारत में निर्यात बहुत बढ़ गया था जैसा कि १८४० में इंगलैंड की लोकसभा की प्रवर समिति को पेश किये गए आंकड़ों से स्पष्ट है।

वर्ष	भारत से ब्रिटेन भेजे गए सूती कपड़े के थान	ब्रिटेन से भारत भेजा गया सूती कपड़ा
१८१४	**१,२६६,६०८ थान**	**८१८,२०८ गज़**
१८२१	**५३४,४९५ थान**	**१९,१३८,७२६ गज़**
१८३८	**४२२,५०४ थान**	**४२,८२२,०७७ गज़**
१८३५	**३०६,०८६ थान**	**५१,७७७,२७७ गज़**

इस स्थिति के बावजूद भी १८४० की प्रवर समिति में यह गवाही दी गई थी। भारतीय सूती, रेशमी और ऊनी कपड़ों का क्रमशः १०, २० तथा ३० प्रतिशत आयात कर लगाया जाता था, जबकि भारत भेजे जाने वाले अंग्रेज़ी सूती व रेशमी कपड़ों पर केवल ३½ और ऊनी कपड़ों पर २½ कर था जो स्पष्टतया केवल राजस्व के लिए लगाया गया था। इससे यह स्पष्ट होता है कि १८४० में भी जबकि इंगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति अपने पूर्ण यौवन में थी, तब भी ब्रिटिश सरकार को भारतीय वस्तुओं के मुकाबले का भय था। इतनी देर तक १८४० में भी यदि स्वतन्त्र प्रतियोगिता होने दी जाती, जबकि लाखों लोगों को अपने चिरकालीन व्यवसायों को छोड़ना पड़ा, तब भी भारतीय कपड़ा ब्रिटिश कपड़े से सम्भवतः मुकाबला कर सकता था।

हालांकि सबसे बड़ा उद्योग होने के नाते यहां केवल वस्त्र उद्योग का ही उल्लेख किया गया है। ब्रिटिश शासन का प्रभाव बाकी के सारे भारतीय उद्योगों पर भी ऐसा ही पड़ा। इस विवरण से निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय कपड़ा और अन्य कुटीर उद्योग धन्धों को नष्ट करने वाले ब्रिटिश कल-कारखाने अथवा भाप के इंजिन पर आधारित उद्योग नहीं था, वरन् अंग्रेज़ों के घातक राजनीतिक षड्यन्त्र थे। प्रत्यक्ष है कि यदि भारत में विदेशियों का शासन न हुआ होता तो भारत के उद्योग और व्यापार कदापि समाप्त न हुए होते, न करोड़ों लोग बेरोज़गार हुए होते और न ही भारत को ये दुर्दिन देखने पड़ते। भारत के पास उत्पादन के सभी आवश्यक तत्व-भूमि, श्रम, पूंजी, तथा उद्यमी-मौजूद थे। अतः वह अपनी अर्थव्यवस्था के स्वाभाविक विकास में बड़ी आसानी से कुटीर उद्योगों के युग से मशीनी उद्योगों के युग में पदार्पण कर सकता था, जैसे कि विश्व को उन अनेक देशों ने किया जो साम्राज्यवाद के भारी बुलडोज़रों के नीचे नहीं पिसे।

१८४० की ब्रिटिश लोकसभा की प्रवर समिति के कुछ उदाहरणों का नीचे उल्लेख किया जाता है, जिसमें सारे गवाह अंग्रेज़ थे। एक गवाह मैलविल से पूछा गया, ''क्या अंग्रेज़ों ने स्थानीय उद्योगपतियों का स्थान लिया?'' तो उसने उत्तर दिया, हां! व्यापक मात्रा में। ''कब से?'' ''मेरे ख्याल से मुख्यतः १८१४ से।''

मेलविल ने आगे बताया, ''भारत के कच्चे माल का निर्यात तभी बढ़ा, जबकि उसको अपने उत्पादन का अधिकांशतः निर्यात बन्द करना पड़ा।

एक अन्य गवाह ऐंड्र्यू सिम ने कहा, ''अंग्रेज़ी वस्तुओं-कपड़े, औज़ार, शीशे और पीतल के बर्तन ने भारतीयों के अपने व्यवसायों से वंचित कर दिया है और वे मुख्यतः खेती-बाड़ी करने लगे हैं।''

सर चार्ल्स टीवीलयन ने बताया, हमने उनके (भारतीयों के) उद्योगों को समाप्त कर दिया है। अब उनके पास निर्भर रहने के लिए भूमि के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।'' ''वह विशिष्ट रेशमी रुई जो बंगाल में पहले उगाई जाती थी जिससे ढाका की सुन्दर मलमल तैयार की जाती थी, अब कठिनता से कहीं दिखाई देती है।...भारत का मानचेस्टर कहलाने वाला ढाका शहर, जो पहले बहुत सम्पन्न नगर था, अब एक बहुत गरीब और छोटे नगर (१५०,००० से ३०,००० अथवा ४०,०००) में बदल गया है। वास्तव में वहां की स्थिति अत्यंत दारुण है। मि० लार्पेट ने कहा, 'हमने भारतीय उद्योग-धंधों को नष्ट कर दिया है।' निदेशकों के अधिकरण के आगे विलियम बैंटिक द्वारा ३० मई १८२९ के कार्यवृत्त में व्यक्त किए गए विचारों का हवाला देते हुए उसने कहा, ''व्यापारिक बोर्ड की रिपोर्ट से अधिकरण को पूरी सहानुभूति है, जिसमें व्यापारिक क्रान्ति के कारण पैदा हुई भारत के बहुत से वर्गों की अत्यन्त दर्दनाक निराशाजनक स्थिति दिखाई गई है, जो वाणिज्य के

इतिहास में शायद ही कहीं कभी हुई हो।''

ब्रिटिश रेशम उद्यामियों के प्रतिनिधि और समिति के एक सदस्य के विचार में, ''बेहतर यही होगा कि भारत कच्चे माल का ही उत्पादन करे और हम उसको पक्के माल में बदलें। इस पर लार्पेंट ने उत्तर दिया, जिस प्रकार से प्रक्रिया आज भारत में चल रही है, यदि यही हाल रहा तो यह स्थिति निश्चय ही दूर नहीं।''

ब्रिटिश उपनिवेशों का पांच बृहद् खण्डों में पहली बार इतिहास लिखने वाला मौंटगुमरी मार्टिन एक और गवाह था जिसने कहा: ''मेरी यह दृढ़ धारणा है कि इंग्लैंड द्वारा अबाध व्यापार को, स्वयं तो अपनाने परन्तु भारत को न अपनाने देने से, भारत के व्यापार को, न केवल इंग्लैंड के साथ बल्कि सब देशों के साथ अत्याधिक अनुचित रूप से क्षति पहुंची है।'' और उसने आगे यह भी कहा: ''उन चीज़ों को छोड़कर, जिनमें हमने भारतीय उद्योगपतियों को निकाल कर उनका स्थान ले लिया है और फलतः देश को निर्धन कर दिया है, बाकी सबं चीज़ों का व्यापार भी कम हो गया है। एक चौथाई शताब्दी तक हमने भारतीयों को हमारी वस्तुएं खरीदने को मजबूर कर दिया। हमारे ऊनी वस्त्रों पर कोई कर नहीं था, सूती वस्त्रों पर केवल २½ था। इसी तरह से नाममात्र के कर बाकी अन्य वस्तुओं पर थे। दूसरी ओर भारतीय वस्तुओं के आयात पर हमने इस बीच में लगभग निषेधात्मक कर लगाये। १० प्रतिशत से २०,३०,५०,१००,१००० प्रतिशत तक कर लगाए। ढाका, सूरत, मुर्शिदाबाद, तथा अन्य स्थानों के, जहां भारतीय उद्योग स्थित थे, विनाश और पतन के बारे में वर्णन करना अत्यन्त दर्दनाक है। मैं यह नहीं समझता कि व्यापार का ऐसा ढंग न्यायोचित हुआ; बल्कि एक बलशाली ने अपनी शक्ति के बूते पर जो चाहा किया।[२४०]

मार्टिन के लिए तो ''तकनीकी दृष्टि से विकसित भारत के शहरों का'' वर्णन करना भी ''अत्यन्त दर्दनाक'' था। जिन लोगों ने अपने उद्योग धंधों का विनाश अपनी आंखों से देखा होगा, अपने महान शहरों तथा जीविका के साधनों को उजड़ते हुए देखा होगा, उनकी स्थिति कैसी दर्दनाक होगी इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

सर हेनरी कॉटन, जो स्वयं ३५ वर्षों तक, भारतीय नागरिक सेवा (आई० सी० एस०) का सदस्य था और जिसके पिता, दादा तथा पुत्र भी, सर्वाधिक उच्चतम वेतन प्राप्त सदस्य थे, १८९० में लिखता है: ''भारतीय शहर (अंग्रेजों के आने से पहले) घनी जनसंख्या वाले और शानदार थे।... शहरी जीवन के साथ-साथ सभी प्रकार की कलाएं विकसित थी। परन्तु अब ३० करोड़ जनसंख्या में से केवल ७ प्रतिशत लोग नगरों में रहते हैं जिनकी संख्या १०,००० से अधिक है। ब्रिटिश प्रभुत्व के अधीन एक अन्य अभागे देश आयरलैंड में यह अनुपात २० है, जबकि स्काटलैंड में ५० और इंगलैंड व वेल्स मे ६७ प्रतिशत है। मैं उदाहरण के रूप में ढाका शहर के बारे में बताऊंगा।...ब्रिटिश शासन के अधीन आने के समय इसकी जनसंख्या २ लाख अनुमानित की गई थी। १७८७ में इग्लैंड को ढाका से ३,०००,००० पौंड की मलमल निर्यात की गई। परन्तु १८१७ तक यह निर्यात बिलकुल ही समाप्त हो गया। बुनाई और कताई की कलाएं, जो पीढ़ियों से अनेकों उद्यमियों की जीविका का साधन थीं,अब विलुप्त हो गई हैं। पहले के समृद्ध परिवारों को अब दरिद्र बना दिया गया है। लोगों को बहुत बड़ी संख्या में नगरों को छोड़कर अपनी आजीविका के लिए गांवों में जाना पड़ गया।...देश के हर भाग में इस प्रकार का ह्रास आया है और कोई भी ऐसा वर्ष नहीं बीतता जबकि स्थानीय अधिकारी सरकार को सूचित नहीं करते कि उद्यमी लोग दिन पर दिन दरिद्र होते जा रहे हैं। भारत के

सर्वाधिक लाभदायक उद्योग-धन्धों को नष्ट कर दिया गया है। और महान् महत्त्वपूर्ण कलाओं का आत्यन्तिक हास हो गया है। रंगाई, दरियां बनाने का काम, सुन्दर कढ़ाई, गहने बनाने, धातुशिल्प, हथियारों की मीनाकारी, नक्काशी, कागज़ बनाना; और यहां तक कि भवन निर्माण तथा मूर्तिकलाओं का भी ह्रास होता जा रहा है।...प्रखर और परिष्कृत पूर्वी कलाओं का रहस्य तक भी समाप्त हो चुका है।...जिस सृजनात्मक यांत्रिक प्रतिभा ने ऊपरी भारत का नहर-जाल, और आगरा का ताजमहल बनाया, वह प्रतिभा पतन के गर्त में गिर चुकी है।[१४१]

''यहां तक कि १८३४ में ब्रिटिश गवर्नर जनरल को भी स्वीकार करना पड़ा कि ''वाणिज्य के इतिहास में इस प्रकार की दुर्गति शायद ही कहीं और हुई ही। जुलाहों की हड्डियां भारत के मैदानों को विरंजित कर रही हैं।''[१४२] और उनका रक्त ब्रिटेन के मैदानों को समृद्ध कर रहा है। करोड़ों लोग बेरोज़गार हो गये और उनको मौत का मुंह देखना पड़ा।'' ।

१८५० ई० तक भारत सारे विश्व को सूती कपड़ा, मलमल, रेशम, ऊनी और अन्य वस्त्रों के निर्यात के स्थान पर ब्रिटिश सूती वस्त्र उद्योग के कुल निर्यात का एक चौथाई आयात कर रहा था। भारतीय वस्त्रों ने मिश्र के परिरक्षित शवों को ढका, रोम की महिलाओं का सौंदर्य बढ़ाया, यूरोप में आर्थिक व राजनीतिक अस्थिरता उत्पन्न की। यूरोपियों की जेबों में पर्याप्त धन डाला, अफ्रीकियों ने अपने भाइयों को गुलाम बनाकर गोरों के हाथ बेचने को प्रेरित किया, १९वीं शताब्दी के आरम्भ तक विश्व की कपड़े की काफ़ी बड़ी मांग की पूर्ति की, और करोड़ों लोगों को जिसमें रोज़गार मिला हुआ था-ऐसे वस्त्र उद्योगों और लोगों को १८५० तक इन लाजवाब शोषकों ने 'जानबूझकर' बर्बाद कर दिया।[४२अ]

देश के अन्य उद्योगों को भी ऐसी ही दर्दनाक स्थिति हुई। जहाजरानी उद्योग का ही उदाहरण लें। लगभग ५००० वर्ष पूर्व भारतीय इतिहास के उद्भव काल से ही अन्य भारतीय उद्योगों के अतिरिक्त जहाजरानी उद्योग भी १९वीं शताब्दी के लगभग मध्य तक पर्याप्त विकसित रहा।

१८१४ में ब्रिटिश संसद ने एक ऐसा कानून बनाया, जिसके अनुसार कोई भी जहाज, चाहे वह इंग्लैंड का ही क्यों न हो, तब तक लन्दन में प्रवेश नहीं कर सकता था जब तक कि उसके कम-से-कम तीन-चौथाई चालक अंग्रेज़ न हों। १८११-१८ के बीच ब्रिटिश सरकार ने कपड़ा व अन्य उद्योगों की ही तरह गैर-ब्रिटिश भारतीय जहाज़ों के विरुद्ध भी विभेदकारी आयातकर लगाये जो एक प्रख्यात भारतीय अर्थशास्त्री के अनुसार ''भारतीय जलपोत व्यवसाय के लिए अत्यंत घातक थे।''[१४३]

इंगलैंड के सम्राट द्वारा ''भारत की सत्ता संभालने के कुछ ही वर्ष बाद १८५८ से पहले कम्पनी का और उसके बाद इंग्लैंड का सीधा शासन भारत पर था।अप्रैल १८६३ में''प्राचीन काल से चला आ रहा भारतीय जहाज़रानी उद्योग अन्ततः मिटा दिया गया।[११४] ''मुझे शायद ही किसी और बात ने इतने प्रखर रूप से मेरे मन पर आघात किया हो, डिग्बी ने लिखा, ''जितना वह तरीका जिस प्रकार से पश्चिमी संसार की समुद्र-स्वामिनी ने पूर्वी संसार की समुद्र स्वामिनी का गला घोंटा।''[१४४अ]

ऐसी ही दुखद स्थिति लोहा ढलाई वालों, इस्पात निर्माताओं, कागज़ उत्पादकों, खांडसारी उत्पादकों, जूते बनाने वालों, धात्विक कर्म करने वालों, कुम्हारों की तथा और बहुत से उद्योगों की थी। अन्य उद्योगों को विस्तृत हवाला देने की आवश्यकता नहीं क्योंकि इस संक्षिप्त वर्णन से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार अंग्रेज़ों ने जानबूझ कर भारतीयों का रक्त चूसा।

१९वीं शताब्दी के लगभग मध्य तक इंगलैंड में औद्योगिक क्रांति पूर्ण हो चुकी थी। व्यापक रूप में लोग गांवों को छोड़कर शहरों में आ बसे थे। खेतीबाड़ी से विस्थापित इन लोगों को उद्योग-कारखानों में काम दिया गया। देश (इंगलैंड) संसार की 'कर्मशाला' और विश्व में सबसे धनी बन गया था और सभ्यता की सीढ़ी के चरमोत्कर्ष पर पहुंच चुका था। दूसरी और, भारत में औद्योगिक विध्वंस लगभग पूरा हो चुका था। बहुत सारे लोग शहरों को छोड़कर ग्रामों में जा रहे थे, क्योंकि भूमि को अंग्रेज़ सम्भवतः देश से बाहर नहीं ले जा सकते थे। उद्योगों व व्यापार से विस्थापित, वे कृषि पर निर्भर रहने लगे। भारत देश दुनिया का सबसे गरीब राष्ट्र बन गया था और सभ्यता की सीढ़ी पर नीचे की ओर धकेल दिया गया था।

जब यह दुःखद स्थिति लोगों से सही न गई, तब उन्होंने १८५७ में अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह को अंग्रेजों ने 'बगावत' की संज्ञा दी और भारतवासियों ने इसे 'भारतीय स्वाधीनता का संग्राम' की संज्ञा से विभूषित किया। इस महान क्रांति का परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश सरकार ने १८५८ में, तब तक, कम्पनी द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से किए गए शोषण की बजाय, स्वयं प्रत्यक्ष रूप से भारत का शोषण अपने हाथों में ले लिया। परन्तु इसका अर्थ यह बिलकुल भी नहीं था कि भारतीयों के शोषण में किसी प्रकार का कोई अन्तर आया हो, बल्कि अब तो शोषण के ऊपर मुलम्मा चढ़ा दिया गया ऐसे कानून जो विजेताओं ने पराजितों के लिए बनाये। डकैती करते हुए क्रूरता के साथ-साथ पाखण्ड से भी अब काम लिया जाने लगा।[१४५]

सन् १८५८ में लोगों का शान्त करने के लिए रानी विक्टोरिया ने ''भारत में शांतिपूर्ण उद्योगों को बढ़ावा देने की सच्ची इच्छा की घोषणा

की। जिसका अर्थ यह था कि ''भारतीयों द्वारा भारत में ब्रिटिश मशीनों के आयात पर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगाने वाली नीति ब्रिटिश सरकार अब नहीं चला सकती थी। इसकी बजाय अब अंग्रेज़ों ने भारतीय आधुनिक उद्योग को हतोत्साहित करने के कई अप्रत्यक्ष तरीके अपनाये। उदाहरणार्थ, हम उदीयमान आधुनिक भारतीय वस्त्र उद्योग को ले सकते हैं।

सन् १८६० में भारत में कुछ भारतीय तथा कुछ ब्रिटिश उद्यमियों ने बुनाई व कताई के उद्योग आरम्भ किए। १८७२ बम्बई महाप्रान्त में केवल १८ और कलकत्ता में दो कारखाने थे। भारत सरकार द्वारा कपास की गड्डियों और धागों पर केवल ३½ और सूती कपड़े पर ५ प्रतिशत आयातकर लगाया गया था। ये कर केवल राजस्व के लिए बजट में घाटे को पूरा करने के लिए लगाये गए थे। ''परन्तु इंगलैंड के उत्पादक इस थोड़े से कर को भी सहन न कर पाए। मानचेस्टर व्यापार संघ के अध्यक्ष ने भारत सरकार से अनुरोध किया कि वह पूर्णतः अबाध व्यापार को अपनाकर'' सभ्यता, न्याय और ईसाईपन से तालमेल करें।[१४६]

ब्रिटिश कपड़ा उद्यमियों ने इन करों का विरोध इसलिए किया क्योंकि वे डरते थे कि भारत में कपड़े के कारखानों के बढ़ने से कहीं उनके भारी लाभों में कभी न आ जाए। अतः उन्होंने अपनी सरकार पर इन करों को समाप्त करने के लिए भारी दबाव डाला। भारत के दूरवर्ती तानाशाह–ब्रिटिश विदेश मंत्री नेभी इन करों की समाप्ति की इच्छा भारत के वाइसराय लार्ड नार्थब्रूक पर प्रकट की। वाइसराय और उसकी परिषद ने १८७६ में इस प्रश्न पर बजट को संतुलित करने की दृष्टि से पुनर्विचार किया। अतः उन्होंने इस कर को हटाने से इनकार किया जो (उनके शब्दों में) ''देसी उद्योगपतियों का संरक्षण करने का कार्य व्यावहारिक रूप में नहीं कर सकता था।''

तानाशाह अपने आदेशों की अवज्ञा तथा अपने देश के हितों की उपेक्षा सहन नहीं कर सका। फलतः, नार्थब्रुक को १८७६ में स्तीफा देना पड़ा और लार्ड लिटन को उसका उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया गया, जो विदेश मंत्री की आज्ञा का पालन करने को तैयार था। परन्तु उसे १८७७ के मद्रास के भयंकर अकाल से उत्पन्न भारी आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, अतः उसने विदेश मंत्री की सहमति से इन करों को हटाने का आदेश स्थगित रखा।

इस पर ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स ने दुर्भिक्ष के उसी वर्ष (१८७७) में अपनी ही सरकार की विध्वंसकारी आर्थिक नीतियों के कारण पड़े भयंकर अकाल को बिलकुल भुलाकर, एक प्रस्ताव पास किया जिसमें उन्होंने मांग की कि भारत सरकार भारत में सूती कपड़े के आयात पर अभी लगाये गए करों को ''बिना विलम्ब हटाए। परिणामतः अनुगामी वर्ष में भारत सरकार ने उस प्रकार के सारे माल के आयात पर से कर बिलकुल हटा दिया, जिसकी प्रतिस्पर्धा की आशंका भारत में उत्पादित माल द्वारा की गई थी।

परन्तु इससे भी ब्रिटिश वस्त्र-उद्यमियों को सन्तुष्टि न हुई और अपने देश की सरकार के माध्यम से उन्होंने भारतीय सरकार पर यह दबाव बराबर बनाये रखा कि सभी आयात कर पूर्णतः हटा दिए जायें। परिणामस्वरूप,१८७९ में लार्ड लिटन ने ३० तार से अधिक मोटे सभी प्रकार के सूती कपड़े पर जो भारतीय कारखानों में मुख्यतः बनते थे, सभी आयात कर पूर्णतः हटा दिए। यह कदम उस समय उठाया गया जबकि, (एक भारतीय अर्थशास्त्री के शब्दों में) ''दक्षिण भारत के लोग १८७७ के मद्रास के अकाल से अभी तक उभर भी नहीं पाये थे, जब उत्तरी भारत १८७८ के दुर्भिक्ष से अभी त्रस्त ही था, और जब भूमिकर

में बढ़ोतरी करने के लिए हाल ही में नये-नये उपकर लगाये गए थे, विशेष करो से एकत्रित अकाल बीमा राशि समाप्त हो चुकी थी, जब अनुमानित बजट में घाटा दिखाया गया था, और जबकि सीमा सुरक्षित करने के लिए और अफगानिस्तान पर संकट को दूर रखने के लिए विशाल धनराशि अभी व्यय होने वाली थी[१४८]

सन् १८८२ में भारतीय उद्योगों को एक और मर्म तक चोट तब लगी, जब कि सिवाय नमक और शराब के, शेष सभी वस्तुओं पर से शेष सभी आयात करों को भी हटा दिया गया।

आयात करों की स्थिति १८९४ तक व्यवहारिक तौर पर ऐसी ही रही। वर्मा के सम्राज्यवादी युद्ध में, और उत्तर-पश्चिम की अन्य सैनिक तैयारियों में भारी व्यय के कारण १८९४ के बजट में भारत सरकार को २० लाख पौंड स्टलिंग से भी अधिक का घाटा उठाना पड़ा। समस्या यह थी कि किस प्रकार से धन की पूर्ति की जाये, और ठिंगने भारतीय कपड़ा उद्योग के मुकाबले में भीमकाय बिट्रिश कपड़ा उद्योग को किस प्रकार संरक्षण प्रदान किया जाये। इसलिए १८९४ में एक युक्ति के अनुसार, जो युक्ति शायद ही किसी और देश ने तब तक अपनाई हो, ब्रिटेन से आयात किए जाने वाले सूती कपड़ों व धागे पर ५ प्रतिशत आयात कर लगाया गया और उसी के बराबर का उतना ही उत्पादन कर भारतीय कारखानों पर भी लगाया गया। इस मात्रा को १८९६ में पुनः ब्रिटिश उद्योग के आदेश पर घटाकर ३½ प्रतिशत कर दिया गया और धागे पर से कर बिलकुल ही हटा दिया गया। बराबर का उत्पादन कर सभी भारतीय सूती कपड़ों पर भी लगा दिया गया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अंततोगत्वा घाटा उठाना पड़ा उदीयमान भारतीय कपड़ा उद्योग को, और भारतीयों को, जिनको अब ब्रिटिश और भारतीय दोनों की वस्तुओं के लिए अधिक पैसे देने पड़ते थे।

सन् १९२५ तक यह ३½ प्रतिशत उत्पादन कर लगातार लगता रहा। १९२५ में कुछ व्यापारिक ह्रास के कारण, और कुछ राष्ट्रवादी दबाव के कारण, इसे स्थगित करना पड़ा, और १९२६ में अन्ततः हटा दिया गया।

न केवल भारतीयों ने, बल्कि वाइसराय की परिषद के कुछ सदस्यों ने और भारत सरकार के कुछ अधिकारियों ने, एवं ऐसे यूरोपीय भारत में रहने वाले गैर सरकारी लोगों ने भी, जिनका भारतीय कपड़ों के कारखानों में अपना निहित स्वार्थ था, इन करों का जोरदार विरोध किया, परन्तु उसका कोई लाभ न हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में डंडी (स्काटलैंड) के जूट उत्पादकों ने भारतीय जूट उद्योग के विरुद्ध पर्याप्त प्रचार किया। परन्तु, क्योंकि डंडी के जूट उत्पादक मानचेस्टर और लंकाशायर के उत्पादकों के समान शक्तिशाली नहीं थे, और क्योंकि (भारतीय) कपड़ा-उद्योग के विपरीत जिसके मालिक कुछ भारतीय और कुछ ब्रिटिश थे, भारतीय जूट उद्योग के स्वामी केवल ब्रिटिश ही थे, जूट-उद्योग पर कर नहीं लगाया गया।

ब्रिटिश समर्थक यह तर्क देते हैं कि क्योंकि ''ब्रिटेन स्वतंत्र व्यापार और (मुक्त आचार) का हिमायती था, इसलिए वह कपड़ा उद्योग को संरक्षण नहीं दे सकता था। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने अंग्रेजों द्वारा नियंत्रित अपने हित के उद्योगों को, जैसे कि चाय, नील ओर रेलवे को संरक्षण भी दिया, भूमि भी दी, धन भी दिया, तथा और भी अन्य प्रोत्साहन दिये। बल्कि भारतीय रेलवे उद्योग तो इस मुक्त आचार के सिद्धान्त (Laisseg Faore) के उल्लंघन का एक ज्वलंत प्रमाण था। ब्रिटेन के शास्त्रीय अर्थविद तक भी, जैसे कि मिल, पिग्गू, मार्शल आदि, जो स्वतंत्र व्यापार और अहस्तक्षेप के पक्के समर्थक थे, नवोदित

उद्योगों के लिए सरकारी संरक्षण के पक्ष में थे। उदाहरणार्थ, पिग्गू मानता है कि ''विशेष रूप से कृषि प्रधान देशों में, जो उद्योगों को विकसित करना चाहते हैं, संरक्षण की उचित व्यवस्था की जानी आवश्यक है।[१४१]

इसके अतिरिक्त, इंगलैंड सहित संसार का कोई भी देश आज तक विदेशी प्रतिस्पर्धा से सरकारी संरक्षण के बिना अपने उद्योगों को विकसित नहीं कर पाया है, जो संरक्षण या तो विदेशी माल के आयात पर पूर्ण प्रतिबंध अथवा भारी संरक्षी कराधान के रूप में होता है। भारतीय माल के विरुद्ध ब्रिटेन द्वारा अपनायी गई ऐसी नीतियों के बारे में हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं। वस्तुतः इंगलैंड ने स्वतंत्र व्यापार की नीति तक अपनायी, जब वह विश्व का एक प्रमुख औद्योगिक देश बन चुका था। जब ब्रिटेन औद्योगिक देश बनने का संघर्ष कर रहा था, तब उसने संरक्षण की नीति अपनायी थी और जब वह पूर्णतः औद्योगिक राष्ट्र और संसार का प्रमुख औद्योगिक देश बन गया तब यह उसके निजी हित में था कि संरक्षण की नीति के बजाय स्वतन्त्र व्यापार का सिद्धान्त अपनाया जाए। परन्तु न योरुप ने, और न ही किसी अन्य स्वतन्त्र देश ने, ब्रिटेन की इस मुफ्त दी गई सलाह का अनुसरण किया। यदि भारत एक स्वतन्त्र राष्ट्र होता तो उसने भी वैसा ही किया होता। जैसे एशिया में जापान ने किया।

प्रथम विश्वयुद्ध पूर्व ब्रिटिश सरकार की स्पष्टतया यह नीति थी कि भारत को कच्चे माल का स्थायी उत्पादक और ब्रिटिश उत्पादित वस्तुओं की स्थायी मंडी के रूप में बनाये रखने के लिए परम्परागत भारतीय उद्योगों को नष्ट किया जाए और आधुनिक उद्योगों को हतोत्साहित किया जाए। इन आधुनिक उद्योगों में, रोज़गार के आंकड़े इस स्थिति को

स्पष्ट करते हैं। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार १९१४ में लगभग १५ करोड़ कामगार लोगों में से केवल ९५१,००० लोग ऐसे आधुनिक उद्योगों में काम करते थे, जो २० या उससे अधिक लोगों को रोज़गार देते थे, जो फैक्टरी अधिनियम के अंतर्गत आते थे।[१५०] इसके एक चौथाई भाग को तो सूती वस्त्र उद्योग के कारखानों में ही रोजगार मिला हुआ था, जिसको १९०५ के स्वदेशी आंदोलन से पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। यह आंदोलन १९०५ में भारतीय वस्तुओं विशेषकर कपड़े के प्रयोग को प्रोत्साहन देने और ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार के लिए चलाया गया था। यह स्वदेशी आंदोलन बीसवीं शताब्दी के राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन का एक महत्वपूर्ण अंग रहा। इसके अतिरिक्त दो बड़े और सुसंगठित उद्योग जूट और कोयला थे। ये तीनों ही उपभोक्ता उद्योग थे। औद्योगिक प्रगति के लिए आवश्यक आधारभूत उद्योगों में से केवल एक ''टाटा आयरन एण्ड स्टील फैक्टरी' थी। इसके बावजूद भी कि अंग्रेजों ने श्री टाटा के रास्ते में 'साम्राज्यवाद को ज्ञात सब प्रकार अनुरोध प्रयोग किए' फिर भी इस फैक्टरी ने १९१२ में उत्पादन आरम्भ कर दिया।''[१५१]

एक भारतीय द्वारा यह फैक्टरी इसलिए खुल पाई थी, कि इसे आरम्भ में मुख्यतः अमेरिकी विशेषज्ञ सहायता पर्याप्त मिल पाई थी। पहला विश्वयुद्ध इसके लिए सहायक सिद्ध हुआ, क्योंकि इस युद्ध के कारण इस्पात की बहुत बड़ी मांग उत्पन्न हुई और बाद में स्वाधीनता आंदोलन ने इसे नष्ट होने से बचाया। प्रथम विश्वयुद्ध की आवश्यकताओं के बावजूद भी, भारत ने टाटा को रेल के इंजन बनाने की आज्ञा नहीं दी, क्योंकि इससे ब्रिटिश इंजन उद्योग की उन्नति में रुकावट का खतरा पैदा हो सकता था।[१५२]

आधुनिक उद्योग में केवल कुछ हज़ार लोग ही कार्यरत थे, परन्तु तथाकथित 'अत्यन्त परोपकारी' सरकार की व्यवस्थित और आयोजित नीतियों के कारण उससे कई गुणा हज़ारों लोग बेरोज़गार बनाये जा रहे थे। उदाहरणार्थ, १९११ की जनगणना की रिपोर्टों के अनुसार कपड़ा मज़दूरों की संख्या गत १० वर्षों में ६% घट गई जिसका कारण ''हाथ से रुई की कताई के कार्य की लगभग समाप्ति'' बताया गया।[१५३] इसी जनगणना के अनुसार खाल, चमड़ा तथा धातु व्यवसायों में भी श्रमिकों के रोज़गार में ६% कमी आई, हालांकि इसी बीच धातु के व्यापारियों की संख्या में छः गुणा वृद्धि हुई; जिसका कारण ''मुख्यतः स्वदेशी पीतल और तांबे के बर्तनों के स्थान पर यूरोपीय एनैमल के बर्तनों और अल्यूमिनियम वस्तुओं का प्रयोग था।[१५४]

यही चित्र लोहे और इस्पात उद्योग का भी था। १९०७ के सरकारी ''इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया'' के अनुसार, ''देशी लोहे की ढलाई का उद्योग आयात किए गए सस्ते लोहे और इस्पात द्वारा रेलवे की पहुंच के क्षेत्र में समाप्त कर दिया गया है परन्तु देश के अधिक भीतरी भागों में यह उद्योग अभी बचा हुआ है।[१५५]

१९२१ की वार्षिक सरकारी रिपोर्ट में भी धीमें स्वर में कहा गया है कि ''युद्ध से कुछ समय पहले की प्रयोगात्मक फैक्टरियों तथा सरकारी आर्थिक सहायता प्राप्त भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन देने के थोड़े बहुत प्रयासों को भी व्हाइट हाल (ब्रिटिश संसद) द्वारा सफल रूप से निरुत्साहित किया गया।[१५६]

भारत के परोक्ष तानाशाह ब्रिटिश विदेशमंत्री जे० चैम्बरलेन ने १९१७ में कहा कि, ''भारत शेष ब्रिटिश साम्राज्य के लिए लकड़ी काटने और पानी सींचने के काम से ही संतुष्ट नहीं रहेगा और न ही उसे रहना चाहिए।''[१५७] इससे वह अप्रत्यक्ष रूप में मानता है कि कम से कम १९१७ से पूर्व तो भारत ऐसा ही था।

मद्रास सरकार ने गलती से १९०६ में एक शोध कार्य ''उद्योग विभाग'' की स्थापना की, जिसे ब्रिटिश सरकार को दबाना पड़ा।[१५८] भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद का इससे बढ़कर विश्वसनीय समाधि-लेख क्या होगा, जिसने नियोजित ढंग से मानव जाति के लगभग पांचवें भाग को मशीनों द्वारा उत्पादन के युग में उन यांत्रिक उद्योगों से सायास वंचित रखा जो किसी भी प्रकार से ब्रिटिश उद्योगों से प्रतिस्पर्धा कर सकते।

प्राचीन भारत के कृषि और उद्योग का पारस्परिक तालमेल में परिणत हो चका था। परिणामतः समूचे ब्रिटिश शासन काल में कृषि पर निर्भर जनसंख्या लगातार कैंसर की तरह बढ़ती ही गई। भारत को केवल कच्चामाल और खाद्य सामग्री का उत्पादक आगे भी बनाये रखने और अपनी उत्पादित वस्तुओं के लिए और भी स्थायी मंडी बनाये रखने के उद्देश्य से अंग्रेज अपनी 'महान लूट' का अत्यन्त अल्पांश रेलवे और बागान (चाय, काफ़ी और रबड़ के) उद्योगों में ''निवेश'' (लागत) के रूप में अब भारत वापिस लाये और इस लूट को 'ब्रिटिश पूंजी' का नाम दिया गया।

❑❑❑

चौथा अध्याय
लूटमार का दूसरा दौरः १८१२-१९१४
(क्रमागत)

रेलवे

भारत में रेलवे की शुरुआत इसलिए की गई कि अंग्रेज़ों के लिए भविष्य में और अधिक लूट तथा शोषण के रास्ते खुलने के लिए वह आवश्यक था। यदि ऐसी बात न होती तो न तो अंग्रेज़ों ने रेलवे की शुरुआत भारत में स्वयं की होती और न किसी को करने दी होती। रेलवे की शुरुआत को भी वे आसानी से रोक सकते थे जैसा कि १८६० तक उन्होंने अन्य मशीनों के विषय में किया। रेलवे और अन्य योजनाओं के लिए, जो अंग्रेजों के अपने हित में थीं, वे सदा धन जुटा लेते थे, परन्तु भारतीयों की प्रारम्भिक तथा मौलिक आवश्यकताओं तक को भी पूरा करने में धन की कमी का सदा बहाना लगाते थे।

दूसरे, अंग्रेजों ने भारतीयों को रेलवे या और किसी भी काम के लिए बदले में अनेकानेक कर लगाए बिना एक भी पैसा तक मुफ्त दान नहीं दिया। भारतीयों से रेलों के लिए इतनी धनराशि निचोड़ी गई, जितनी शायद ही संसार के किसी और देश से निचोड़ी गई हो। भारतीयों ने यह तर्क दिया कि रेलवे की बजाय उन्हें सिंचाई के साधन और अन्न उगाने के लिए साधनों की कहीं बहुत अधिक आवश्यकता है, क्योंकि एक तो वे सस्ते यातायात का साधन हो सकेंगे और दूसरे बार-बार पड़ रहे अकालों से बचाव भी कर सकेंगे। उन्होंने इस ओर भी इंगित किया कि रेलवे से प्रतिवर्ष भारी घाटा हो रहा है। इन तर्कों के बावजूद भी अंग्रेजों ने भारत में रेलों को प्रसार स्वयं ब्रिटेन और फ्रांस से भी अधिक तेज़ी से किया, क्योंकि ऐसा करना अंग्रेजों के अपने आर्थिक स्वार्थ में था।[१५९]

जैसा कि पहले विवेचन हो चुका है, १९वीं शताब्दी के लगभग मध्य तक भारतीय उद्योग और उत्पादन प्रायः पूर्णतः नष्ट कर दिये गए थे। १८४७ में ''लन्दन टाइम्स'' यह लिख सका कि ''अब वे दिन बीत गए हैं। जब भारत को ''एल डोरेडो'' समझा जाता था, परन्तु दक्षिण में कपास की उपज हीरों के एक जहाज के बराबर होती है।[१६०] १८४७ में 'लन्दन इकानॉमिस्ट' में एक लेख ने यह स्पष्ट कर दिया कि ऐसा कोई ''उष्णकटिबन्धीय'' कच्चा माल नहीं है ''जिसकी उपज भारत में अन्य देशों के सामान अथवा उनसे बेहतर न की जा सकती हो; जबकि उसकी घनी और प्रख्यात जनसंख्या हमारी औद्योगिक वस्तुओं की असीमित मांग कर सकती है।''[१६१]

यद्यपि भारत के पास कच्चा माल और भोज्य पदार्थ ब्रिटेन को भेजने और उनके औद्योगिक माल की खपत करने, की पर्याप्त क्षमता थी, फिर भी वास्तविकता यह थी कि प्रारम्भिक विक्टोरिया काल में भारत ने ब्रिटिश वस्तुओं का ब्राज़ील से जो ब्रिटेन का उपनिवेश था भी नहीं, केवल दसवां, भाग प्रति व्यक्ति उपभाग किया। लंकाशायर ने भारत द्वारा कम कपास भेज सकने की शिकायत भी की।[१६२]

क्षमता और वास्तविकता के मध्य की खाई को भरने के लिए ब्रिटिश व्यापारियों ने अनेकों उत्तेजित आन्दोलन किये, जिनमें से एक यह भी था कि ''औद्योगिक क्रान्ति की दो महान सफलताओं-भाप द्वारा चलित जहाजों और रेलों को भारत में आरम्भ किया जाए।''[१६३]

अतः १८४० में भाप से चलने वाली पहली जहाज़ कम्पनी 'पेनिसुलर ऐंड-ओरिएन्टल स्टीम नैविगेशन कम्पनी (P&O) की स्थापना की गई। फिर भी ब्रिटेन का भारत से आयात-निर्यात आशा से बहुत कम था। इस स्थिति पर ब्रिटिश व्यापारियों, पत्रकारों और सरकारी अधिकारियों ने पूर्णरूपेण विचार-विमर्श किया। 'उनका मुख्य निष्कर्ष यह था कि ब्रिटेन की भारत से व्यापार में कमी का कारण अच्छे

आन्तरिक यातायात का न होना है।... तर्कसंगत पग-वग भारत में रेलों का जाल बिछाया था।''[१६४]

लक्ष्य स्पष्ट था। प्रवर्तकों ने अब भारत और ब्रिटेन की सरकारों को रेलवे के राजनीतिक और सैनिक लाभों के विषय में समझाना आरम्भ किया इन व्यापारियों ने बार-बार व्यापारिक, राजनीतिक और सैनिक लाभों पर जोर डाला, यह सारे लाभ ब्रिटेन के हित में थे। **१८४५ में एक प्रबुद्ध रेलवे अर्थशास्त्री हाइड क्लार्क ने कहा कि रेलवे की स्थापना के पीछे कोई लोकोपकार की भावना न हो कर केवल राजनीतिक व्यवहार-चातुर्य की भावना काम कर रही है।**

''अतः हम ब्रिटिश व्यापारियों की कम्पनी को अपनी कोटिशः प्रजा की नैतिक और सामाजिक प्रगति के कार्य में यह खर्चीली सहानुभूति की प्रेरणा नहीं दे रहे हैं, बल्कि उन्हें अपने शासन को इस क्षेत्र में सुदृढ़ करने के लिए सुयोजित रेल यातायात की व्यवस्था का आग्रह कर रहे हैं।

कुछ ही समय बाद क्लार्क ने कहा, कि ''विश्व में प्रत्येक कार्य के पीछे स्वार्थ होता है। संक्षेप में उसने स्पष्टतया कहा कि ''वास्तविकता यह है कि हिन्दुओं से हम रेलवे बनवायेंगे जिससे हम पर्याप्त मात्रा में लाभ उठा सकें।''[१६५]

१८४८ से १८५७ तक भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड डलहौज़ी ने २० अप्रैल १८५३ को एक नोट लिखा, जो एक प्रकार से भारतीय रेलवे का आधारभूत प्रावधान है, ''इंगलैंड भारतीय कपास के लिए ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला रहा है, जिसे भारत पहले से ही कुछ मात्रा में पैदा करता है और यदि यातायात के साधनों की समुचित व्यवस्था हो जाये तो निश्चय ही वह बढ़िया और अधिक मात्रा में कपास पैदा करने लगेगा।'' इसके अतिरिक्त इन तीन महाप्रान्तों-बम्बई, कलकत्ता व मद्रास को जोड़ने वाली रेलवे लाइनों से ''अपार राजनीतिक लाभ''

होंगे। इससे ''सरकार देश में किसी भी स्थान पर अपनी शक्तिशाली सेना का अधिकांश अब जितने महीनों में पहुंचाती फिर उतने ही दिनों में पहुंचा सकेगी।''[१६६]

सन् १८४५ में भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड हार्डिग ने रिपोर्ट दी कि ''हिन्दुस्तान की समतल भूमि रेलवे के निर्माण के लिए पर्याप्त सुविधाजनक है जिससे व्यापार, सरकार और देश के सैनिक नियंत्रण में अत्यधिक सहायता मिलेगी।''[१६७] और यह सब अंग्रेजों के हित में है।

भारत में ''व्यापार, सरकार एवं सैनिक नियंत्रण'' के लिए सन् १८५३ में ब्रिटिश प्राइवेट कम्पनियों ने रेलवे की शुरुआत की। इन कम्पनियों ने कम से कम ५% वार्षिक लाभ की गारंटी मांगी जबकि सरकार ने उन्हें ४% वार्षिक लाभ की गारंटी के अतिरिक्त बिना किसी किराये या कर के मुफ्त में भूमि देने का प्रस्ताव किया। कम्पनी के नेता सर जॉर्ज लापेंट समेत सभी ने इस प्रस्ताव पर अत्यन्त संतुष्टि प्रकट की। लापेंट ने यह स्वीकार किया कि भूमि का प्रस्ताव और ४% की गारंटी बहुत बड़ा लाभ है।[१६८] फिर भी ब्रिटिश व्यापारी इस 'बहुत बड़े लाभ' से भी संतुष्ट नहीं थे। वे और अधिक चाहते थे और भारत की अंग्रेज़ सरकार ने उन्हें और अधिक देकर खुश किया।* क्योंकि जैसा कि

** ब्रिटिश साम्राज्यवादी मौरिस और तायाजिंकन १९६४ में अपनी सरकार के पक्ष में समझ में आने वाली परन्तू तर्कहीन दलीलें पेश करते हैं कि ''आज भारतीय सरकार विश्व बैंको ६% ब्याज देती है, और उसको कोई खसोटने वाला नहीं कहता'' वे दुखी होते हैं कि ''गैर-सरकारी रेलवे कम्पनियों को केवल ५% की ही गारंटी दी गई थी।[१७०] ये लेखक चाहते हैं कि पाठक यह मान ले कि १०० वर्ष से ऊपर की अवधि में भी ब्याज की दर का मान बदला नहीं है। पाठकों की बुद्धि और ज्ञान का कैसा अपमान है! प्रश्न यह है कि १८५० की स्थिति में जिस समय के ब्रिटिश अधिकारियों और व्यापारियों का जिन्होंने रेलवे*

लापेंट ने कहा, ''भारतीय बोर्ड, कम्पनी और सरकार भारत को लूटने के लिए मिले हुए हैं।''[१६९]

खेद है कि भारतीय सरकार द्वारा रेलवे के विषय में, अथवा

में पूंजी लगाई, क्या मत था? क्या उन्होंने उसको संतोषजनक समझा या नहीं? कुछ मत नीचे दिये जा रहे हैं। १८७३ में संसदीय समिति के समक्ष भारत के सर्वोच्च ब्रिटिश अधिकारी, लार्ड लारेन्स, ने कहा: ''पांच प्रतिशत की गारंटी पर तो पूंजीपति कुछ भी करने को तैयार होंगे...५% तो इतनी अच्छी ब्याज की दर है कि उसको प्राप्तकर वे संतुष्ट होंगे।[१७१] जब लारपेन्ट ने यह सुना कि भारत सरकार ५% की गारंटी और मुफ्त भूमि देने को मान गई है, तब उसने घोषणा की थी कि यह प्रस्ताव तो ''ब्रिटेन अथवा यूरोप की किसी भी रेलवे कम्पनी के लाभों से श्रेष्ठ है।''[१७२] एक और रेलवे कम्पनी (जी० आई० पी०) के अध्यक्ष लार्ड ह्वानक्लिफ ने कहा कि ''रेलवे कम्पनी ने जितना मांगा, उससे अधिक मिला।[१७३] इस प्रश्न का कि क्या गारंटी देना वास्तव में आवश्यक था? उत्तर डेनियल थॉर्नर ने स्पष्टत: 'ना' में दिया है क्योंकि सरकार चाहती तो स्वयं लन्दन से ''बहुत कम दर पर'' पैसा उधार ले सकती थी, कारण कि वहां पूंजी बेकार पड़ी थी, जिसकी पूंजीपति काम में लगाना चाहते थे।[१७३अ] सर जॉन कैपहैम ने कहा कि ''लन्दन में इतने समय तक पूंजी इतनी सस्ती कभी भी नहीं रहीं जितनी १८४८ के मध्य से १८५२ के अन्त तक थी।[१७४] इस बीच ब्रिटेन में पूंजी की व्यापक भरमार थी।[१७५]

इसके अतिरिक्त, यदि भारत की सरकार आज ६ प्रतिशत पर पैसा उधार लेती है, तो रेलवे की स्थापना के विपरीत उसके द्वारा चलाये गए नव-उद्योग का लाभ अंग्रेजों के लिए नहीं बल्कि भारतीयों के लिए भारत में रहता है, अंग्रेजों की बजाय भारतीयों को नौकरियां मिलती हैं; और उधार ली गई पूंजी भारतीय उद्योगों को, न कि ब्रिटिश उद्योगों को प्रोत्साहन देती है। भारत मे रेलवे की स्थापना भारतीय सम्पदा को ब्रिटेन में शोषित करने का एक और ढंग था।

पाठक भली भांति समझा सकते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी, भारतीय स्वतन्त्रता के बाद भी, किसी तरह से निरर्थक और आधारहीन तर्कों से अपनी भारत की लाजवाब डकैती को उचित सिद्ध करने का प्रयन्त करते हैं।

रेलवे कंपनियों के साथ संविदा–पत्र बनाने के सम्बन्ध में किसी भी भारतीय को कभी भी पूछा तक नहीं गया। दोनों ओर अंग्रेज़ ही इस काम में लगे थे, अंग्रेज़ जो अपने आपको धनी बनाने की दृष्टि से बहुत से ढंगों द्वारा जितना सम्भव हो सके भारत को लूटने की ताक लगाये रहते थे। रेलवे तो उनके लिए ऐसा करने का एक ढंग था। यदि कोई वस्तु डाकुओं की पहुंच से बाहर है, तो वे किसी भी तरह की सीढ़ी लाने का प्रयत्न करेंगे ताकि उनके हाथ घर में सब जगह पहुंच जायें। उसी प्रकार भारत में अंग्रेज़ भी रेलवे की स्थापना द्वारा ऐसी ही सीढ़ी लाये ताकि अब वे केवल बन्दरगाह के निकटवर्ती क्षेत्रों में ही नहीं बल्कि देश के भीतरी भागों से भी अपने फौलादी पंजे फैलाकर कच्चा माल सस्ती दरों पर खरीद सकें और अपना औद्योगिक माल बेच सकें।

निःशुल्क भूमि के अतिरिक्त भारत की सरकार (अर्थात भारत की जनता) के राजस्व से ब्रिटिश कम्पनियों को ५% की गारंटी देने का अर्थ था कि यदि कम्पनियों को पूंजी की लागत पर ५% वार्षिक वास्तविक लाभ रेलवे से न हुआ, तो भारतीय जनता शेष की कमी को पूरा करेगी। कम्पनियों पर इस बात की कोई भी रोक–टोक नहीं थी कि वे पैसे को अक्लमंदी और बचत के साथ खर्च करें और उन पर यात्रियों की सुविधाओं की कोई जिम्मेदारी थी। ऐसी स्थिति में सरकारी कर्मचारियों के मतों के उद्धृत करते हुए एक प्रख्यात भारतीय अर्थशास्त्री ने कहा है कि, ''रेलवे लाइनों के निर्माण में की गई फिजूलखर्ची और यात्रियों की सुविधाओं की अवहेलना का ऐसा उदाहरण शायद ही विश्व के रेलवे उद्योग के इतिहास में कहीं और मिले और ये तथ्य सरकार के बड़े–बड़े पदाधिकारियों की साक्षी द्वारा प्रमाणित किये गए थे।[१७६]

संसदीय समिति के समक्ष १८७२ में भारत के वित्तमन्त्री विलियम एन० मैस्सी ने भारतीय रेलवे के निर्माण को ऐसा ''अत्यधिक फिजूलखर्ची का काम बताया जो पहले कभी भी नहीं किया गया।''[१७७] भारत के

वाइसराय एवं गवर्नर-जनरल* सर जॉन लारेन्स** ने भी इस फिजूलखर्ची की तीव्र आलोचना, और यात्रियों के साथ किये जा रहे दुर्व्यवहार की बहुत बड़ी निन्दा की।[१७८]

ब्रिटिश कम्पनियों और भारतीय ब्रिटिश सरकार के मध्य हुई संविदाओं की शर्तों पर विचार करने के पश्चात डेनियल थॉर्नर का निष्कर्ष है कि ''जोखिम तो ईस्ट-इण्डिया कम्पनी (अर्थात् भारतीय जनता) को उठाना था रेलवे के वर्तकों की हानि और अनिश्चितताएं सदैव ईस्ट-इण्डिया कम्पनी पर मढ़ी जा सकती थीं; और लाभ कम्पनियों को होना था।[१७९] दूसरे शब्दों में ब्रिटेन के लोगों को अपनी कम्पनियों के माध्यम से भारत की ब्रिटिश सरकार से मिलकर, पैसा बटोरना था, चाहे रेलवे को लाभ हो अथवा हानि, और भारतीयों को हानि और जोखिम उठाने थे। ऐसी संविदा ''उसके लिए, जिसने यह तैयार किये घोर लज्जाजनक थे''[१८०] और इनकी किसी तरह से भी सफाई नहीं दी जा सकती सिवाय इसके कि अंग्रेजों का उद्देश्य भारत का शोषण और लूटमार करना था और रेलवे ऐसा करने का एक साधन था। ऐसी परिस्थितियों में भारतीय रेल का व्यवसाय १९वीं शताब्दी के अन्त तक क्षति के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता था, जबकि उस समय तक

---

* *ब्रिटेन द्वारा १८५८ में भारत के प्रत्यक्ष प्रशासन से पहले, भारत के उच्चतम ब्रिटिश पदाधिकारी की पदवी केवल 'गवर्नर-जनरल' होती थी और बाद में, 'वाइसराय एवं गवर्नर-जनरल' थी।*

** *जैसा कि पहले इंगित किया जा चुका है, यदि ब्रिटिश हितों की बात होती थी तो भारत के उच्चतम सरकारी पदाधिकारियों के चाहते हुए भी वे भारत के तानाशाह-ब्रिटेन के विदेशमन्त्री के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकते थे, यद्यपि उनका ऐसा चाहना एक बहुत विरल बात थी। (भारतीयों की तो बात ही क्या? वे तो भारत की सब सरकारों से अधिक तानाशाही अंग्रेज़ी सरकार की गिनती में कहीं नहीं आते थे।)*

रेलवे पर कुल खर्चा २२ करोड ६० लाख पौंड हो चुका था, और भारतीयों द्वारा उठाया गया घाटा ४ करोड़ का था। १९४३-४४ तक (स्वतन्त्रता के केवल तीन वर्ष पहले तक भी) प्रत्येक वर्ष भारतीयों को केवल रेलवे पर ही लगभग एक करोड़ पौंड ऋण के रूप में ब्रिटिश जनता को देना पड़ता था[१८१] (शेष ऋणों के विषय में बाद में बताया जाएगा।)

इतनी बड़ी धनराशि के खर्च करने बावजूद भी, इसका अर्थ यह नहीं था कि रेलवे ने भारत में उद्योगीकरण का युग आरम्भ किया हो, जैसा कि रेलवे ने अमेरिका, जर्मनी और जापान आदि संसार के अन्य देशों में किया। यह एक सामान्य शिकायत थी कि भारतीय उद्योगीकरण के लिए रेलवे प्रशासकों ने कोई ध्यान नहीं दिया।[१८२] भारत का उद्योगीकरण तो अंग्रेजों के लिए सांड़ को लाल कपड़ा दिखाने की भांति था। रेल की पटरियों के बनाने में और दरों के निर्धारण में ऐसी नीतियां अपनाई गई, जिससे विदेशी (मुख्यतः ब्रिटिश) उद्योगों को प्रोत्साहन मिले और भारतीय उद्योग हतोत्साह हों।

रेलों का भाड़ा बेहद अधिक था, अमेरिका से भी अधिक और यदाकदा तो दुगुने से भी अधिक और सेवाएं उसके मुकाबले में घटिया थीं।[१८३] न केवल भाड़े ही अधिक थे, बल्कि एक भारतीय अर्थशास्त्री के शब्दों में, उनको इस तरीके से नियोजित किया जाता था कि ''यूरोप के व्यापारियों को सहायता मिले और भारतीय उद्योगों ओर उद्यमियों का विकास रुके,[१८४] तथा ''औद्योगिक वस्तुओं के आयात की और कच्चे माल के निर्यात की प्रेरणा मिले।''[१८५] केवल इस शताब्दी के दूसरे दशक में आकर ही, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दबावों के कारण (जो बाद में बताये गए हैं) अन्धाधुन्ध भाड़े की इन त्रुटियों का महत्व नहीं रहा। सार

यह है कि जिन भारतीय रेलों की स्थापना के लिए भारतीयों को विपुल धनराशि खर्चनी और भूमि देनी पड़ी, उन्होंने ही भारत में आधुनिक उद्योगों को निरुत्साहित किया, और उसने परम्परागत उद्योग धन्धों को नष्ट कर दिया जो अभी तक देश के आन्तरिक भागों में स्वयं को घसीट रहे थे और जिससे अधिकाधिक लोग विवश होकर कृषि और बेराज़गारी की ओर जाने लगे। भारतीय गलों में नवागन्तुकों के फन्दे को और दृढ़ कर दिया गया, कृषि का जबर्दस्ती व्यापारीकरण होने लगा, कच्चे माल व खाद पदार्थों का निर्यात तथा विदेश निर्मित वस्तुओं का आयात बढ़ने लगा और भारतीय राजस्व का इंगलैंड को निष्कासन बढ़ने लगा जिसके कारण कर अधिकाधिक मात्रा में लगे, निर्धनता बढ़ती गई, ओर बारम्बार दुर्भिक्षों के कारण जो ब्रिटिश पूंजी द्वारा भारत के रूपान्तर के दुःखदायी परिणाम थे,[१८६] विशाल संख्या में लोग मरने लगे।

भारतीय रेलों से जो भी यथार्थ अथवा काल्पनिक लाभ भारतीयों को हुए हों, जैसे कि बहुत थोड़े से लोगों को आने-जाने में सुविधा, जो ''लगभग रीते डब्बों में बलि के जानवरों की भाँति भर दिए जाते थे,[१८७] ये सब लाभ तनिक भी जानबूझ कर नहीं दिये गए बल्कि सांयोगिक थे। भारतीयों और कुछ समझदार एवं दूसरों का ध्यान रखने वाले भारत के अंग्रेज़ पदाधिकारियों के अतिरिक्त अकाल-आयोगों ने भी बार-बार यह मांग की कि रेलों के विस्तार को रोका जाये। फिर भी रेलों का विस्तार भारतीय आवश्यकताओं और साधनों से कहीं बढ़-चढ़ कर किया गया, इसका बिलकुल भी कतई ध्यान न करते हुए कि खर्चा क्या होगा और भारतीयों पर इनका क्या परिणाम होगा।[१८८] उदाहरणार्थ, रेलों के लिए बड़े तटबंध बनाते समय देश के प्राकृतिक जल निकासों का कोई ध्यान नहीं रखा गया । परिणामस्वरूप बाढ़े बारंबार और लगातार बढ़ती गई, भू-क्षरण बढ़ने लगे, मलेरिया उत्पन्न करने वाले दलदलों

का प्रकोप फैला और करोड़ों लोग मौत के मुंह में गए, जिसकी अंग्रेजों ने कभी भी कोई परवाह नहीं की, यदि यह उनके हितों के विरुद्ध होता था। भारतीय रेलों ने, जिनका. निर्माण केवल भारतीयों के खून-पसीने की कमाई से ही हुआ था, शासकों (अंग्रेज़ों) को अपनी तैयारशुदा वस्तुओं के लिए विस्तृत बाज़ार प्राप्त कराने के साथ-साथ रेलों को बनाने का सामान पहुंचाया जो सभी दूर इंगलैंड से लाया गया था, कच्चा माल और खाद्य पदार्थ का (इंगलैंड में) आयात सुगम बनाया; फालतू पूंजी के लाभकारी निवेश प्रदान किये, इंगलैंड के स्तरों के अनुसार बहुत ऊंचे वेतनों पर फोरमैन से ऊपर तक.[१८९] की सारी नौकरियों का हमारे छोकरों [१९०] के लिए ''आजकल की फालतू चीज़ों को उपलब्ध कराने के महान अवसर प्राप्त कराये; और उन लोगों को, जिन्होंने गोरों को अपना 'बोझ' उतारने को कहने का 'अपराध' करने का साहस किया, मारने और कुचलने के लिए सेना को तत्काल भेजने का माध्यम प्रस्तुत किया। इस प्रकार जिस मंतव्य से भारत में रेलों का आरम्भ हुआ, उसकी पूर्ति प्रचुर मात्रा में हो गई।

बागबानी

भारत में कपड़ा उद्योग के सहकार्य के रूप में रंगाई का व्यवसाय भी महत्त्वपूर्ण था। रंग के रूप में नील बहुत समय से पूर्व में ज्ञात था और अंग्रेज़ों के भारत में आगमन से बहुत पहले भारत इसको बनाता और निर्यात करता था। 'इण्डिगो' शब्द से ही यह निर्दिष्ट हो जाता है कि इसका उद्‌गम स्थान इण्डिया (भारत) ही है; और ऐसा प्रतीत होता है कि चौथी शताब्दी ई० पूर्व सिकन्दर महान की मुहिमों के द्वारा इसका आरम्भ यूरोप में हुआ।

इस शताब्दी के तीसरे दशक तक भी भारत के शहरों तक में भी

चाय आम पेय नहीं थी। अतः यह लगभग सारी की सारी निर्यात की जाती थी। इस शताब्दी के चौथे दशक में भी भारत में कुल उत्पादित चाय का ७०-७५% भाग निर्यात किया जाता था और शेष का उपभोग देश के भीतर होता था। कॉफ़ी का भी अधिकांश निर्यात ही किया जाता था।

चाय, कॉफी तथा नील के उत्पादन के लिए यूरोपीयों (मुख्यतः ब्रिटिश) ने १९वीं शताब्दी के आरम्भ में बागबानी आरम्भ की। इन पर धन मुख्यतः यूरोपीयों ने ही लगाया, ब्रिटेन से पूंजी लाकर नहीं बल्कि कम्पनी के कर्मचारियों की बचत व लूट और उनके व उनके एशियाई व्यापार के मुनाफे तथा भारतीयों की बचत से, उसी प्रकार जिस तरह से कम्पनी की लड़ाइयों और यूरोपीय व्यावसायिक संस्थानों जैसे कि बैंक, बीमा, जहाज़रानी इत्यादि पर धन लगाया गया था केवल १९वीं शताब्दी के साठवें दशक में ही ब्रिटिश पूंजी प्रचुर मात्रा में आनी आरम्भ हुई, जो उस धन का एक बहुत छोटा सा अंश था जिसे अंग्रेज़ों ने भारतीयों से प्रत्यक्षतः या परोक्षतः अपने समस्त शासन काल में लूटा।

अंग्रेज़ों की भारत से कच्चा माल निर्यात करने की नीति के अनुसार सन् १८३३ में, यूरोपीयों को इस उद्देश्य के लिए काफ़ी भूमि बंगाल महाप्रांत में प्राप्त करने की अनुमति सरकार ने दे दी। सरकार ने बागबानी उद्योग को प्रत्येक संभव ढंग से प्रोत्साहन दिया, क्योंकि यह ब्रिटेन के हित की मांग थी। १८३३ में ही ब्रिटिश शासित देशों में दास-प्रथा समाप्त कर दी गई थी। परन्तु भारत में अंग्रेज़ो द्वारा तनु-आवृत दास प्रथा उसी वर्ष आरम्भ की गई क्योंकि एक प्रख्यात भारतीय इतिहासकार के शब्दों में ऐसा लगता है कि अंग्रेज़ों ने ''अन्य देशों की क्षति-पूर्ति के लिए ऐसा किया''[१९१] इसके बाद ''इस क्षेत्र (बंगाल) में

उजड्ड किस्म के बागबान लाए, जिनमें से कुछ अमरीका में दास-अधीक्षक रहे थे, जो अपने संग गन्दे विचार और आदतें लेकर आये।''

तरह-तरह की चालाकियों से इन उत्पादकों ने गरीब कृषकों को मूर्ख बनाया। उन्हें या तो उत्पादकों की सरकार द्वारा प्राप्त भूमि पर काम करना पड़ता था या अपने ही उत्कृष्ट खेतों में नील उगाना पड़ता था। दोनों ही तरह से श्रमिक अथवा कृषक और उनके परिवार व्यावहारिक दृष्टि से, सरकार की मौन सम्मति के साथ यूरोपीयों के गुलाम बन जाते थे। सरकारी 'नील आयोग' की रिपोर्ट में कहा गया कि, ''यह महत्त्वहीन है कि कृषक अपना अग्रिम वेतन प्रसन्नता से अथवा अनिच्छा से लेते हैं परिणाम दोनों का एक ही होता है। वह उसके बाद कभी भी स्वतन्त्र पुरुष नहीं रहता। १९३ कारावास, निर्दय पिटाई (कभी कभी मरणान्तक भी), अपहरण, उनकी पत्नियों का अपमान, उनके घरों का विनाश, फसलों का विनाश आदि सभी सम्भव तरीकों से किसानों को, जहां वे किसी के पास अपने कष्टों के निवारण के लिए जा सकें, ऐसे शिक्षित समाज और नील उगाने अथवा चाय के बागों में कार्य करने को बाध्य किया जाता था।

नील

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिंसक व्यवहार इतना आम हो गया था कि सरकार को विवश होकर १८१० में दण्डाधिकारियों के लिए आदेश निकालना पड़ा कि वे मजदूरों पर हो रहे अत्याचारों को समाप्त करने के लिए माल ज़ब्त करने के उपाय निकालें। १८१० में चार बागबानों के लाइसेंस रद्द कर दिये गए, ''क्योंकि उनके विरुद्ध, देशियों से दुर्व्यवहार प्रमाणित हो चुके थे।'' परन्तु १८१० में प्रस्तावित उपचार बागबानों द्वारा ढाए गए जुर्मों के बिलकुल भी अनुरूप नहीं थे। यह

निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि सरकार और उसके कर्मचारी देशियों के विरुद्ध अपने यूरोपीय बन्धु बागबानों के साथ मिले हुए थे, सिवाय उन गिने-चुने व्यक्तियों के जो अपना कर्तव्य निभाना चाहते थे, और जिनको इसी कारण एक भारतीय समाचार-पत्र 'हिन्दु पैट्रियॉट' के शब्दों मे, ''बागबानों के अत्याचारों के विषय में ईमानदारी से जांच, अथवा उनकी दुष्कृतियों को रोकने के प्रयत्न करने के लिए अपमानित एवं मानमर्दित, तथा पदच्चुत तक भी कर दिया जाता है।[१९४] ये सब बातें अंग्रेज़ और अन्य गवाहों द्वारा और स्वयं आयोग द्वारा भी, १८६० में इन जुल्मों की जांच के लिए बिठाये गए 'नील आयोग के सम्मुख स्पष्टतः कही गई। न केवल सरकारी कर्मचारी आमतोर पर बागबानियों का पक्ष लेते थे और उनकी हर प्रकार से सहायता करते थे, अपितु अनेक उत्पादकों को स्वयं अवैतनिक दंडाधिकारी भी बना दिया गया। मानो इतना ही पर्याप्त नहीं था, संविदाओं का उल्लंघन-ऐसी संविदा जो स्वैच्छिक नहीं थी, और जिन पर कृषकों से जबर्दस्ती कोरे कागज पर हस्ताक्षर कराये जाते थे-एक दंडनीय अपराध घोषित कर दिया गया, जिससे कृषकों के फौजदारी मुकदमे चलाकर दंडित किया जा सकता था। शायद ही ऐसा कानून संसार के किसी और देश में बनाया गया हो। यों तो यह १८३० का अत्याचारी कानून १८३५ में रद्द कर दिया गया, परन्तु व्यावहारिक रूप में यह प्रचलित ही रहा।[१९५]

अंततः, भारतीय कृषकों से जब यह अमानवीय दमन सहा न गया तब बे अर्द्धमृतकों की स्थिति में भी यूरोपीय उत्पादकों के विरुद्ध संगठित होकर खड़े हो गये। ग्रामवासियों ने अपनी जान देनी स्वीकार कर ली परन्तु नील की खेती करने से इनकार कर दिया। बीसवीं शताब्दी के महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन के पूर्ववर्ती 'नील

नहीं उगायेंगे' के १८५८-६० के आन्दोलन को बागवानों ने, सरकारी कर्मचारियों की सहायता से, प्रत्येक तरीके से दबाने का भरसक प्रय% किया। परन्तु, फिर भी इन वीर पुरुषों ने, यह जानते हुए भी कि उन्हें ब्रिटिश सरकार क्रूर शक्ति का मुकाबला करना पड़ेगा, झुकने से इनकार कर दिया।

इस आन्दोलन का एक अच्छा परिणाम यह निकला कि सरकार को १८६० में एक नील जांच आयोग बिठाना पड़ा। यदि सरकार ऐसा न करती, तो कृषक नील की खेती करना बन्द कर देते, जिस सम्भावना को सरकार सहन नहीं कर सकती थी। एक गवाह ने, जो कभी दण्डाधिकारी* रह चुका था; आयोग के सम्मुख अंग्रजों की बर्बरताओं के बारे में थोड़ा-सा इस प्रकार बतलाया कि ''मैं कहना चाहता हूं कि मिशनरियों पर यह कहने के लिए लांछन लगाया जाता है कि ''नील की एक भी पेटी मानव रक्त का धब्बा लगे बिना इंगलैंड नहीं पहुँचती।'' इसे किंवदन्ती कहा जाता है। परन्तु यह मेरा अपना कथन है। फरीदपुर जिले में दण्डाधिकारी होने के अनुभव के आधार पर मैं पूर्णरूपेण और विस्तृत रूप से इस कथन की सत्यता को समझता हूं। दण्डाधिकारी के तौर पर मेरे पास ऐसे बहुत से कृषक आये हैं जिनके अंग-अंग बरछों से छेदे गये थे। ऐसे भी कृषक मेरे सामने आए हैं जिन्हें पहले बर्छों से छेदा गया, और फिर जिनका अपहरण किया गया। ऐसे अमानवीय तरीकों से नील उत्पादन को मैं व्यापक हत्याकाण्ड मानता हूं।[१९६]

---

* *अंग्रेजो के शासनकाल में भारत में जिला दण्डाधिकारी जिले का सबसे महत्वपूर्ण सरकारी पदाधिकारी होता था। वह राजस्व कलेक्टर, न्याय अधिकारी, पुलिस कमिश्नर और कार्यकारी अधिकारी सभी कुछ होता था।*

१८६० की इस नील-आयोग की रिपोर्ट के कार्यवृत्त में तत्कालीन बंगाल के सर्वोच्च पदाधिकारी लेफ्टिनेंट गर्वनर ने कहा ''नील से सम्बद्ध अपराधों ने किस निर्ममता से निरंतर देश की शान्ति भंग की है...यह रिपोर्ट के परिशिष्ट में देखा जा सकता है। इन अपराधों का एक मात्र कारण उत्पादकों द्वारा नील के पौधे उत्पादन की लागत तक दिए बिना कृषकों से प्राप्त करने की प्रथा है। नील आयोग द्वारा ली गई गवाही यह पूर्णरूप से सिद्ध करती है कि जिस 'प्रवृत्ति' की ''२२ जुलाई,१८१० में भर्त्सना की गई थी, वही प्रवृत्ति' १८५९ में भी वर्तमान थी।[१९७]

इस जांच आयोग के परिणामस्वरूप तथा लोगों के जर्बदस्ती नील न उगाने के दृढ़ निश्चय के कारण बंगाल में से बल प्रयोग को हटाना पड़ा।

तब बागबानी बहुत सीमा तक अपनी पूंजी बंगाल से हटाकर बिहार और वर्तमान उत्तर प्रदेश के कुछ भागों में ले गये, जहां पर वह अपनी सरकार से मिलकर उसी प्रकार के अमानवीय अत्याचार ढा सकते थे। यूरोपीय बागवानो के कृषकों की स्थिति नरक जैसी कर दी थी। जब तक महात्मा गांधी ने १९१७ में इनकी मांगों का नेतृत्व नहीं किया। तब तक इनकी स्थिति में लगभग कोई भी सुधार नहीं किया गया। कुछ संघर्ष के बाद गांधी जी को एक जांच समिति नियुक्त करने में सफलता मिली। इस समिति ने कृषकों के पक्ष में निर्णय दिया और तब जाकर कहीं इन्हें बागबानों के शिकंजों से कुछ राहत मिली। खैर, उन्नीसवीं शताब्दी के अंत के आस-पास नील-उद्योग का विनाश हो गया, क्योंकि जर्मन वैज्ञानिकों ने कृत्रिम नील का आविष्कार कर लिया था।

चाय

बंगाल और आसाम के चाय बागानों में कार्यरत 'कुली' कहलाने वाले श्रमिकों की दशा भी वैसी ही थी और कुछ दृष्टियों से और भी बुरी थी। ऐसे कानूनों के अन्तर्गत, जिनको आम तौर से 'दास कानून' कहा जाता था, स्त्रियों और बच्चों समेत श्रमिकों, को, धोखा देकर अथवा जबर्दस्ती, अपहरण कर लिया जाता था।

अनेक श्रमिक तो आसाम जाते हुए या वहां पहुंचकर मौत के घाट उतर जाते क्योंकि उन्हें भयानक परिस्थितियों में बागबानों के गुप्त क्षेत्रों में काम करना पड़ता था। आसाम के सर्वोच्च स्वास्थ्य अधिकारी हने १८८४ में कुलियों के काम करने की परिस्थितियों के वर्णन के बाद कहा : ''इसलिए इसमें कोई हैरानी की बात नहीं कि चाय के बागों के श्रमिकों में बीमारी और मृत्यु का अनुपात सदा ही बहुत अधिक रहा है, और बहुत सारे बागों में तो यह सभ्य देशों की 'महामारी' से भी भयंकर है।''[१९८]

यदि कुलियों ने गुलामी और कड़ी मजदूरी के इस शिकंजे से मुक्त होने का प्रयास किया भी, तो सरकार ने बागबानियों को यह अधिकार दे रखा था कि वे कृषकों को गिरफ्तार कर दंडित कर सकते हैं। संसार भर में गोरों द्वारा अश्वेतों पर किये गए व्यवहार के समान ही भारतीयों पर किए गए इन नृशंस अत्याचारों की सूचना लगातार सरकार को दी जाती रही, और उच्चतम ब्रिटिश अधिकारी इस तथ्य को स्वीकारते भी रहे। फिर भी इस सम्बन्ध में कोई जांच तक नहीं करायी गई। ब्रिटिश न्यायाधीश, उच्च न्यायालयों के भी सामान्यतः, देशियों के विरुद्ध यूरोपीयों का ही पक्ष लेते थे,[१९९] यद्यपि केवल देशियों के पारस्परिक मामलों में वे सामान्यतः निष्पक्ष होते थे। नील तथा अन्य पदार्थों की

भांति इंगलैंड व अन्य देशों को निर्यात की जाने वाली चाय भी ''खून के धब्बों'' से भरी थी। बीसवीं शताब्दी में आकर राष्ट्रवादी आन्दोलन के दबाव के कारण चायबागानों की स्थिति कुछ सुधरी।

यह तनु–आवृत दास प्रथा केवल भारत में ही नहीं अपितु दूसरे देशों में भी चलाई गई, जहां यूरोपीयों को सस्ते श्रमिकों की आवश्यकता थी। भारतीय श्रमिकों को यूरोपीय उपनिवेशों में काम करने के लिए, भारतीय ब्रिटिश सरकार की देखरेख और नियन्त्रण में, बाहर ले जाया गया। इस प्रकार की श्रमिकों की भर्ती को प्रतिज्ञाबद्ध श्रमिक व्यवस्था कहा गया, जो सभ्यता के मूलरूप नियमों के विरुद्ध एक पाप था क्योंकि श्रमिकों को प्राणी न मानकर मुख्यतः औजार समझा जाता था।''[२००]

❑❑❑

पांचवां अध्याय

लूटमार की तीसरा दौरः १९१४-१९४७

प्रथम विश्वयुद्ध से ब्रिटिश भारतीय सरकार की आर्थिक नीतियों में एक परिवर्तन आया। यद्यपि यह परिवर्तन बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में ही दिखाई देने लगा था।अंग्रेजों ने यह परिवर्तन किसी स्नेहवश नहीं किया; बल्कि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने उन्हें ऐसा करने पर बाधित कर दिया। इस परिवर्तन के मुख्य कारण संक्षेप में निम्नलिखित थे।

१. महारानी विक्टोरिया की १९०१ में मृत्यु और ब्रिटेन की संसार में सर्वोच्चता की समाप्ति एक ही साथ हुई, जिसकी प्रक्रिया १९वीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थाश में शुरू हो गई थी। बाकी और देशों सहित जापान और अमेरिका ब्रिटिश-उद्योग और व्यापार के सबसे सशक्त प्रतिद्वन्दी थे। ये देश भी भारतीय बाज़ार में घुसना चाहते थे। राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से ब्रिटिश सरकार के लिए यह सम्भव नहीं था कि वह इन देशों की वस्तुओं को भारत में आने पर पूर्णतया रोक दें।

२. भारतीय जनता के राजनितिक संघर्ष २०वीं शताब्दी के आरम्भ में एक तीव्र मोड़ लिया। अपनी 'बांटो और शासन करों' की नीति के अनुसार जब सरकार ने १९०४ में बंगाल को विभाजित करने का प्रस्ताव रखा, तो भारतीय जनता ने इसका विरोध बड़े जोर-शोर से किया और 'सम्पूर्ण स्वाधीनता' की मांग की। आर्थिक क्षेत्र में इस आंदोलन ने स्वदेशी आंदोलन को जन्म दिया। देश भर में उद्योगों के बारे में उत्साह की एक लहर दौड़ पड़ी, जो प्रथम विश्वयुद्ध के बाद औद्योगिक विशेषतः वस्त्र उद्योग की उन्नति के लिए जिम्मेवार थी।

३. युद्ध के समय में जहाज़रानी सुविधाओं में काफी कमी आने से, और जर्मन पनडुब्बियों से आक्रमणों के बढ़ते खतरे के कारण, अन्य देशों की तरह ही भारत का विदेश व्यापार भी अस्तव्यस्त हो गया था। भारत में आने वाले अंग्रेजों के विपुल माल की सप्लाई मुख्यतः काट दी गई थी। विस्तृत साम्राज्यवादी हितों की यह मांग थी कि भारत ब्रिटेन और उसके मित्र राष्ट्रों की युद्ध-सम्बन्धी आवश्यकताएं पूरी करे।

४. युद्ध के दौरान और उसके तत्काल बाद ब्रिटिश सरकार को भारतीय जनता के सहयोग और सक्रिय समर्थन की अत्यन्त आवश्यकता थी। इनकी आशा तब तक नहीं की जा सकती थी जब तक ब्रिटिश सरकार भारतीयों को कुछ राजनीतिक और आर्थिक सुविधाएं न दे देती। अंग्रेज़ों ने यह वचन दिया कि भविष्य में देश का सारे सम्भव तरीकों से उद्योगीकरण करेंगे। परन्तु अनेक अन्य आश्वासनों की भांति यह भी प्रायः पूरा नहीं किया गया।

ऐसी परिस्थितियों और युद्ध से उत्पन्न अनेक मांगों के वशीभूत होकर अपने शासन के १५० वर्षों बाद अंग्रेज़ों ने पहली बार अनमने भाव से इस देश का उद्योगीकरण करने की सोची। २६ नवम्बर १९१५ के अपने पत्र में वायसराय लार्ड हार्डिंग ने ब्रिटिश विदेश मंत्री को लिखा, ''यह स्पष्ट होता जा रहा है कि युद्ध के बाद भारत के औद्योगिक विकास के लिए हमें कोई सुनिश्चित नीति अपनानी होगी', वरना वह विदेशी माल के लिए क्षेपण भूमि बन जाएगा जो बाजारों के लिए आपस में बढ़-चढ़ कर प्रतियोगिता करने को तैयार होंगे। यह भी स्पष्ट होता जा रहा है कि बड़े राष्ट्रों का राजनीतिक भविष्य आर्थिक स्थिति पर निर्भर करेगा। इस प्रश्न के बारे में भारतीय जनता पूर्णतः एकमत है और इसे यों ही टाला नहीं जा सकता।...युद्ध के बाद भारत

को, जहां तक स्थितियां अनुमति दें, एक औद्योगिक देश बनाने के लिए अपनी सरकार से अधिकतम सहायता की मांग करने का अधिकार होगा।''[२०१]

१९१८ में आरम्भ की गई चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में कहा गया कि ''न केवल भारतीयों की आशाओं को पूरा करने के लिए, बल्कि भारत की आर्थिक स्थिरता के लिए हर दृष्टि से औद्योगिक विकास की नीति अपनाना अत्यावश्यक है।''...आर्थिक और सैनिक दोनों दृष्टियों से साम्राज्य के हित में भी यही है कि भारतीय प्राकृतिक साधनों का अब और उत्तम प्रयोग किए जाए। हम इस बात का अनुमान भी नहीं लगा सकते कि औद्योगिक भारत साम्राज्य को कितनी शक्ति प्रदान करेगा।''[२०२]

अंग्रेज़ों को अपने १५० वर्षों के शासन के बाद ऐसा आभास क्यों हो गया? स्पष्टतया, युद्ध, जिसके कारण विदेशों से आने वाली वस्तुओं में कटौती, और पूर्व में ब्रिटिश सामरिक महत्व के कारणों से भारत को 'युद्ध का पूर्वी रंगमंच' बनाने के लिए भारत के उद्योगीकरण के विषय में सोचने की आवश्यकता पड़ी। मौंटेगू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के अनुसार ''अस्थायी रूप से समुद्री परिवहन के रोके जाने की सम्भावना के कारण युद्ध के पूर्वी रंगमंच में रक्षा हेतु अस्त्र-शस्त्रों का अड्डा बनाने के लिए, विवश होकर भारत पर हमें युद्ध सामग्री उत्पादन के रूप में निर्भर होना ही पड़ेगा। इन दिनों औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों की उत्पादित वस्तुएं युद्ध सामग्री की ही भांति मात्रा में तो नहीं परन्तु एक ही प्रकार की होती हैं। अतः भारतीय प्राकृतिक साधनों का विकास सैनिक दृष्टि से लगभग आवश्यक बन जाता है।''[२०३]

इस परिवर्तन के अनुसार सरकार ने १९१६ में एक भारतीय औद्योगिक आयोग की स्थापना की। इस आयोग ने १९१८ में अपनी रिपोर्ट में एक सिफारिश यह भी की कि सरकार को देश में उद्योगों को

प्रोत्साहन देना चाहिए। फिर भी यह एक इच्छा जनित धारणा ही बन कर रह गई, क्योंकि सरकार देश का उद्योगीकरण करने के लिए तैयार नहीं थी। परन्तु सरकार के कारण नहीं, अपितु युद्ध के कारण थोड़े से उद्योगीकरण के लिए स्वाभाविक संरक्षण तथा प्रोत्साहन मिला।

युद्ध के बाद मार्च १९२० तक आर्थिक तेजी का काल आया। इस अल्प काल में वर्तमान उद्योगों ने 'आश्चर्यजनक लाभ' कमाया तथा कुछ नये उद्योग आरम्भ हुए। अंग्रेजों द्वारा पूर्ण स्वामित्व वाली जूट मिलों ने १९१८ से १९२१ तक के केवल चार वर्षों में ही अपनी सारी पूंजी का सात गुना लाभ कमाया। भारतीय स्वामित्व वाले कपड़ा उद्योगों ने भी बड़ा लाभ कमाया। परन्तु जिन श्रमिकों के कारण इतने अत्यधिक लाभ हुए थे, उन श्रमिकों को बड़ी कंजूसी के साथ वेतन दिया जाता रहा। १९२० के मध्य के पश्चात् भारतीय उद्योगों को विदेशी उद्योगों के साथ पूर्ण रूप से प्रतियोगिता करनी पड़ी। स्वाभाविकतया उन्होंने संरक्षण की मांग की। जिसके परिणामस्वरूप वित्तीय आयोग की १९२१ में नियुक्ति की गई, जिसने १९२२ में अपनी रिपोर्ट पेश की। आयोग के सरकारी बहुमत ने धीमे प्रकार की 'विभेदकारी संरक्षण' की नीति अपनाने की सिफारिश की जो एक भारतीय अर्थशास्त्री के शब्दों में "विदेशी हितों की संतुष्टि के लिए"[२०४] की गई थी। ऐसे संरक्षण को देने के उद्देश्य से उद्योगों को चुनने के लिए भी उन्होंने तीन शर्तें निर्धारित की। ये शर्तें जो परस्पर-विरोधी थीं, विश्व के किसी भी स्वतन्त्र देश द्वारा कभी भी निर्धारित नहीं की गई और, भारत के एक अर्थशास्त्री के शब्दों में "औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों में भी इस प्रकार की शर्तों को पूरा नहीं किया जा सकता।"[२०५] आयोग के अल्पसंख्यक पांचों भारतीय सदस्यों ने 'पूर्ण-संरक्षण' की यह दलील देते हुए मांग की, कि बहुमत की मुख्य सिफारिशें शर्तों और प्रतिबन्धों से इस प्रकार से जकड़ी

हैं कि वे रिपोर्ट की उपयोगिता को क्षीण तो करती ही हैं। अपितु उद्योगीकरण के मार्ग में भी रुकावट डालती हैं। ब्रिटिश हितों को सदैव सुरक्षित रखने को उत्सुक रहने वाली सरकार ने सरकारी कर्मचारियों की सिफारिशों को मान लिया और भारतीय सदस्यों की रिपोर्ट को रद्द कर दिया। बहुमत सरकारी सदस्यों ने एक स्थायी सीमा शुल्क बोर्ड की स्थापना की भी, सिफारिश की चूंकि यह ब्रिटिश–हित में नहीं था, इसलिए यह सिफारिश रद्द कर सरकार ने अस्थायी सीमा शुल्क बोर्ड की नियुक्ति की जिसकी सिफारिशों को मानना या न मानना सरकार की इच्छा पर निर्भर था। इस संरक्षण नीति का सबसे बड़ा दोष सरकार का देश के उद्योगीकरण के प्रति एक विरोधात्मक रवैया था। यह विरोधात्मक रवैया संरक्षण की नीति को बेमन से लागू करने से ही केवल स्पष्ट नहीं था अपितु अंग्रेज़ों की भारतीय सरकार और अंग्रेजों की ब्रिटेन सरकार के मध्य हुए व्यापारिक समझौते के अन्तर्गत साम्राज्यिक अधिमानता की सामान्य प्रणाली को भारत पर थोप कर औद्योगिक उन्नति को रोकने से भी स्पष्ट था। भारतीय जनता और विधान सभा के बड़े विरोध के बावजूद भी इस समझौते को शीघ्र ही पूर्ण कर दिया गया। ''इस समझौते से अंग्रेजों को भारतीय बाजार में असाम्राज्यिक देशों की और भारत दोनों की औद्योगिक वस्तुओं के मुकाबले में अपनी वस्तुएं बेचने में लाभ होता था।''[२०६]

स्पष्टतया, साम्राज्यिक अधिमानता ने अनेक संघर्षरत भारतीय लघु उद्योगों को भारी धक्का पहुंचाया। इसके इतिहास और शर्तों से पुनः यह स्पष्ट था कि अंग्रेज़ भारत को कच्चे माल का और केवल आकस्मिक रूप से ही औद्योगिक वस्तओं के निर्यातक बनाये रखना चाहते थे, यह सही कहा गया है कि ''भारतीय सीमाकर के इतिहास में मैनचेस्टर के पूंजीपतियों का प्रभाव विशाल अक्षरों में अंकित है।''[२०७] भारत को अंग्रेज़ के लिए 'लकड़ी काटने व पानी खींचने वाला' बनकर ही रहना था।

प्रथम विश्वयुद्ध दौरान और बाद में ब्रिटिश पूंजीपतियों ने भारत को विशाल लाभ कमाने के लिए अनुकूल देश पाया। इसके कई कारण थे। पहला, कि स्वयं युद्ध के द्वारा निर्मित स्थितियों के कारण मांग बन्द थी और आयात घट रहा था। दूसरा, अब तक ब्रिटिश औद्योगिक क्षमता एक ऐसे संतृप्त शिखर पर पहुंच चुकी थी जहां और अधिक पूंजी लगाने से विशाल लाभ नहीं हो सकते थे। तीसरा, भारत में श्रम इंगलैंड की अपेक्षा नितान्त सस्ता था। और चौथा, ब्रिटेन के विपरीत, भारत में पूंजीपतियों पर, भारतीय श्रमिकों के शोषण के लिए व्यावहारिक दृष्टि से कोई प्रतिबन्ध नहीं था। परिणामतः भारत में कुल ब्रिटिश विदेशी पूंजी की लागत १९१३ में लगभग १०% से एकदम बढ़कर १९३३ में लगभग २५% हो गई।[२०८] १९३० में भारत में लगी सारी विदेशी पूंजी का संभवतया ९/१० से भी अधिक भाग अंग्रेज़ों के हाथ में था।[२०९] भारत को लूटने की यह तीसरी सारणी वित्तीय पूंजीवाद द्वारा थी।

भारत के उद्योगों का प्रभुत्व और स्वामित्व मुख्यतः ब्रिटिश पूंजी का ही था, यहां तक कि कपड़ा उद्योग का नियंत्रण भी, जिसमें भारतीय पूंजी बड़ी मात्रा में लगी थी, बहुत अंश तक 'प्रबन्ध-एजेन्सियों' की व्यवस्था द्वारा अंग्रेजों के हाथों में था। अपनी सरकार द्वारा संरक्षित ब्रिटिश उद्योगपतियों ने श्रमिकों सहित भारतीय साधनों का अपने लाभ के लिए अधिकाधिक शोषण किया। इसके अतिरिक्त, अधिकांश ब्रिटिश कम्पनियों का पंजीकरण ब्रिटेन में हुआ था, जिसका अर्थ था कि उनके द्वारा कमाये गए विशाल लाभों पर लगाए गए कर भारत की बजाय ब्रिटेन के खजाने में जाते थे एवं इस प्रकार का भी कोई कानून नहीं था जो इन ब्रिटिश और अन्य विदेश पूंजीपतियों को, भारतीयों को प्रबन्धकीय या तकनीकी पदों पर नियुक्त करने को, बाध्य करता। वास्तव में प्रयत्न तो यह रहता था कि भारतीयों को ऐसे पद न दिये जाएं जिससे वे ब्रिटिश जानकारी से अथवा ब्रिटिश उद्यमियों से मुकाबला कर सकें।

इस प्रकार उद्योगीकरण की इस प्रक्रिया से भारत के हाथ यदि कुछ आया भी तो केवल इतना ही कि कुछ हज़ार श्रमिकों को रोज़गार मिला, जिनमें बच्चे और महिलाएं भी थीं जिनकी 'भीमाकार लाभों' का अत्यन्त छोटा-सा अंश वेतन के रूप में मिलता था। मजदूर संघ बनाना तो लगभग एक अपराध माना जाता था। १९४७ तक ब्रिटिश शासन में ''कठोर कानूनों व अधिनियमों के कारण मजदूर संघों का काम चलाना कठिन था। यह एक प्रकट रहस्य था कि अपराध अनुसंधान विभाग (सी० आई० डी०) के माध्यम से गृह विभाग इन मजदूर संघों की सब गतिविधियों को संदेह की नजर से देखता था।''[२१०]

१९४३ में हेनरी ब्रेल्सफोर्ड ने लिखा, ''इस शोषण से इतना लाभ कमाया जाता है कि हमारा विश्वास भी हतप्रभ हो जाता है। कोयले की खानों में दैनिक मज़दूरी ८ पैन्स थी, जबकि वे (अपने हिस्सेदारों का) १६०% दे रहे थे। यह स्थिति केवल आर्थिक वृद्धि के वर्षों में ही नहीं थी, ऐसे ही खानों में से एक खान का १९०१ से १९२९ तक के सारे काल में औसत लाभांश ८०% से भी अधिक था। पटसन के ५१ कारखानों मे से ३२ ने १९१८-२७ तक एक या अधिक वर्षों में १००% से भी अधिक लाभांश दिया; २९ ने २०% से कम कभी नहीं,और १० ने ४०% से कम कभी भी नहीं दिया।

''पर्याप्त मात्रा में एकत्रित अपने पास के आंकड़ों से मैं यह हिसाब लगाता हूं कि युद्ध के पश्चात् के प्रारम्भिक वर्षों में उन पटसन के मिलों ने स्कॉटलैंड में अपने लाभांशधारियों को लाभांश के रूप में यदि १०० पौंड दिये, तो भारतीय श्रमिकों को केवल १२ पौंड मज़दूरी दी गई। निस्संदेह, भारत ब्रिटिश ताज का सबसे अधिक चमकदार रत्न है।

''ये भीमाकार लाभ भी पूरी कहानी नहीं बतलाते। इन ब्रिटिश कम्पनियों में से बहुधा लन्दन में पंजीकृत हुई हैं, जिसका अर्थ यह है कि भारतीय श्रमिकों के शोषण से कमाये गए लाभ पर लगाया गया आयकर ब्रिटिश खजाने में जाता है, न कि भारतीय खजाने में एक प्रकार का नज़राना जो सारे परतंत्र साम्राज्य को एशिया और अफ्रीका में भुगतना पड़ता है। पाठकों के लिए तो यह केवल आंकड़े ही हैं, परन्तु मेरे लिए तो ये उन महा गन्दे और जर्जर छप्परों में पटक दिये जाने वाले श्रमिकों के कठिनता से सांस लेने वाली अस्तित्व की यादें हैं। कोई भी सभ्य सरकार इन लाभों पर कुछ कर लगाकर इन श्रमिकों के जीवन स्तर को ऊपर उठाने का प्रयत्न करती। अंग्रेज़ पाठकों को तो स्मरण कराना उचित होगा–भारतीयों के सामने ऐसा कहना भी एक निष्ठुर मजाक ही है–कि सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था का एक छोटा अंकुर भी कहीं इस मुनाफाखोरों के स्वर्ग में विधमान नहीं है।''[२११]

१९३९ में जॉन गुन्थर ने यह संदिग्ध सम्मान भारत को प्रदान किया कि, ''यहां दुनिया में सबसे गंदी झोंपड़ियां हैं, मजदूरों को सप्ताह में तीन अथवा चार रुपए (लगभग १–२० डालर) मिलते हैं, वे अंधेरे छप्परों में रहते हैं, जहां न पानी की सुविधा है न सफाई की, बदबूदार पानी से भरपूर संकरी गलियों से होकर इनमें प्रवेश करना पड़ता है। ८x६ फुट के कमरों में भी नौ–दस लोगों को रहना पड़ता है। बीमारियां, गन्दगी तथा मानवता की पाशविक स्तर तक हो रही अवहेलना के बीच मानव जीवन नारकीय बदबू से भरे कूड़े की कोठरियों में पड़ा है।''[२१२]

इतने बाद तक भी १९३१ में सरकारी ह्विटने रिपोर्ट ने मजदूरों के बारे में लिखा कि ''पाँच वर्ष तक के छोटे–छोटे बच्चे भी उनमें हैं। भोजन खाने का पर्याप्त समय तक नहीं मिलता और जो बिना साप्ताहिक

अवकाश के १० से १२ घंटे प्रतिदिन केवल २ आने (दो पैंस) प्रतिदिन तक की मज़दूरी पर भी कड़ा काम करते हैं।'' छोटे-छोटे बच्चे जो कूड़ा-करकट और रोगाणु सने कपड़ों से ढके अपनी माताओं के साथ ऊन के ढेरो पर पड़े सोते हैं।'' कमिश्नर को ''इस बात के विश्वास का कारण था कि ''छोटे बच्चों को निर्दयी प्रकार के शारीरिक दंड दिये जाते हैं और उनके विरुद्ध अन्य क्रूर अनुशासनिक कार्यवाहियां की जाती हैं।'' उनके मां-बापों को ये चुपचाप सहना पड़ता था क्योंकि वे मालिकों के ऋणी होते थे।[२१३]

इस रिपोर्ट में यह भी कहा गया कि ''ज्यों ही बच्चे चलना सीखते हैं।''[२१४] त्यों ही वे बागबानियों में काम करने लग जाते हैं। १९३७ में आर० रेनाल्ड्स के अनुसार इन बागबानियों द्वारा घोषित लाभांश ''आधुनिक वर्षों में...२२५% तक था।''[२१५]

भारत सरकार को केवल साम्राज्यिक वरीयता से ही संतुष्टि नहीं हुई। उन्होंने भारतीय उद्योगों के विकास को रोकने के और अनेक तरीके ढूंढ़ निकाले। इनमें से एक तरीका बैंकिंग का था, जिनका स्वामित्व और नियंत्रण बहुधा अंग्रेज़ों के हाथ में था। बैंक ही वित्त जुटाते हैं, जिसके बिना आधुनिक उद्योगीकरण असम्भव है। एक अमेरिकी लेखक हमें इन बैंकों के भारतीय उद्योगों के प्रति अपनाये गए रवेये के बारे में बताता है, '' ...क्योंकि बड़े बैंकों में से अधिकांश या सरकारी नियंत्रण में हैं या वे ब्रिटिश और अन्य विदेशी बैंकों की शाखाएं हैं, इसलिए भारतीय उद्यमी उन औद्योगिक उद्यमों के लिए, जिनको अंग्रेज़ नहीं चाहते, वित्त जुटाना लगभग असंभव पाते हैं। [२१६]

भारतीय उद्योगों का गला घोटने के अन्य तरीकों में से 'प्रबन्धक एजेंसियों' की व्यवस्था और ब्रिटिश हितों के पक्ष में मुद्रा तथा विनियम

दरों का परिचालन आदि भी थे। आधुनिक उद्योगीकरण की दिशा में यदि कुछ किया भी तो वह उपभोक्ता उद्योगों के क्षेत्र में किया गया जिनका बहुधा स्वामित्व और अथवा नियंत्रण अंग्रेज़ों और अन्य यूरोपीयों के हाथों में था। आधारभूत भारी उद्योग, जो देश के और भविष्य में उद्योगीकरण के लिए आवश्यक होते हैं, द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ तक बिलकुल ही नहीं थे, सिवाय टाटा आयरन ऐंड स्टील कम्पनी के, जो केवल राष्ट्रवादियों के दबाव के कारण ही बची रही।

भारत के इस आभासी औद्योगीकरण का अर्थ यह नहीं था कि उद्योगों पर निर्भर जनसंख्या बढ़ रही थी और कृषि से लोगों का मोह छूट रहा था, बल्कि स्थिति उल्टी ही थी। इसका कारण यह था कि बड़े पैमाने के उद्योग जिनमें अधिक पूंजी और कम श्रम की आवश्यकता होती है, लंगड़ाकर प्रगति कर रहे थे, जबकि हथकरघा उद्योगों को, जिसमें कम पूंजी और अधिक श्रम लगता है, में और भी अधिक ह्रास होता जा रहा था। परिणामस्वरूप कृषि पर दबाव, जो उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में ही अपने चरम बिन्दु पर पहुँच गया था, बीसवी, शताब्दी में और भी बढ़ गया। द्वितीय महायुद्ध की पूर्व संध्या में भी भारत की वास्तविक स्थिति कुल मिलाकर उद्योग-विहीनता की ही थी, यदि इसको इस मापदंड से तोलें कि कितने लोग अपनी आजीविका के लिए उद्योगों पर निर्भर थे। १९४२ में एक अमेरिकी लेखक ने लिखा, ''१८९१ से १९११ तक कृषि पर जनसंख्या की निर्भरता ६१% से बढ़कर १२% हो गई, क्योंकि अधिक से अधिक कामगारों, उद्यमियों बुनकरों, जुलाहों आदि को विवश होकर भूमि पर निर्भर होना पड़ा, जिसका अर्थ था कि प्रत्येक कृषक के पास भूमि निरन्तर कम ही कम होती चली गई।[२१७]

१९११-३१ के बीच, उदाहरणार्थ, हथकरघा उद्योगों सहित सभी प्रकार के उद्योगों में कार्यरत श्रमिकों की संख्या लगभग १ करोड ७० लाख से घटकर लगभग १ करोड ५० लाख रह गई जबकि काम करने योग्य लोगों की जनसंख्या १४ करोड ९० लाख से बढ़कर १५ करोड ४० लाख हो गई है।[२१८]

१९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध की घोषणा की गई, और प्रथम विश्वयुद्ध की ही भांति वायसराय ने भारतीय लोगों या उनके नेताओं से पूछे बिना भारत को इस यूरोपीय युद्ध में धकेल दिया। प्रथम विश्वयुद्ध में जो आर्थिक, सामरिक और राजनीतिक मजबूरियां अंग्रेज़ों की थीं, वे १९३९ में और भी बढ़ गई थीं, परन्तु फिर भी सरकार ने भविष्य को ध्यान में रखकर उद्योगीकरण के बारे में रुकावट डालने वाली नीति अपनाई। और भारत के प्रथम प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू के शब्दों मे, ''भारत में ऐसे किसी उद्योगों के विकास को अनुचित समझा जाता था जो युद्ध के बाद बिट्रिश उद्योगो से मुकाबला कर सके। यह कोई छिपी नीति नहीं थी, ब्रिटिश पत्रों ने इसे सार्वजनिक अभिव्यक्ति दी थी जिसका भारत में निरन्तर हवाला दिया जाता रहा और विरोध होता रहा।''[२१९]

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय भी, अंग्रेजों की यही नीति थी कि भारत को केवल कच्चे माल का निर्यातक और ब्रिटिश उत्पादित वस्तुओं का खरीदार ही बने रहने दिया जाये-इस बात के बावजूद भी कि दिल्ली में हुए १९४० के पूर्वी देशों के सम्मेलन में आस्ट्रेलिया के साथ-साथ भारत को भी युद्ध के लिए आधार-भूमि के रूप में सबसे उत्कृष्ट समझा गया, और इस नीति के बावजूद भी कि एक अमरीकी तकनीकी मिशन ने, जिसके अध्यक्ष डॉ० ग्रेडी थे, भारत में कुछ नये

उद्योगों की स्थापना की सिफारिश की थी, जिनके लिए भारत में सारे साधन उपलब्ध थे। ये दोनों रिपोर्ट भारत में कभी भी प्रकाशित नहीं की गई, क्योंकि सरकार के विचारानुसार जनता के (अर्थात् अंग्रेजों के हितों में नहीं थी।[२२०]

'ईस्टर्न इकॉनॉमिस्ट' ने ३१ अगस्त १९४५ को लिखा, ''हम सब कुछ बना सकते हैं फिर भी कुछ नहीं बना रहे; किसी भी चीज़ के निर्यातक बन सकते हैं तथा संसार में किसी भी चीज़ की मरम्मत कर सकते हैं, परन्तु कोई भी चीज़ बना नहीं सकते। हमारे पास न कोई व्यवस्था है, और न ही कोई योजना। यदि है तो स्पष्ट सम्पूर्ण और एकमात्र योजना यही है कि युद्धोत्तर काल में देश के उद्योगीकरण को रोका जाये।''[२२१]

इस अवरोधक नीति के बावजूद भी, युद्ध ने उद्योगीकरण की भारी मांग उत्पन्न कर दी और विदेशों से आयात लगभग बन्द हो गया, जिससे अनेक उद्योगों का भिन्न-भिन्न मात्राओं मे लाभ पहुंचा। प्रचालित और संगठित उद्योगों ने अपनी क्षमता, उत्पादन और लाभों को बढ़ाया। प्रथम विश्वयुद्ध के विपरीत, जिसने मुख्यतः उपभोक्ता-उद्योगों को ही प्रोत्साहन दिया था, दूसरे विश्वयुद्ध ने कुछ सीमा तक 'मूल उद्योगों' के स्थापना में भी प्रोत्साहन दिया।

किन्तु दूसरे देशों, जैसे कि आस्ट्रेलिया और कनाडा के विपरीत, सिवाय शास्त्रास्त्र और युद्ध से सम्बन्धित अन्य विशिष्ट उद्योगों के भारत को युद्ध से कोई भी लाभ नहीं हुआ। दूसरी ओर, युद्ध से पूर्व भारतीयों द्वारा नियोजित कुछ नये उद्योग शुरू नहीं किये जा सके, क्योंकि मशीनों तथा अन्य वस्तुओं का आयात नहीं हो सका।[२२२] यही नहीं, युद्ध के दौरान और बाद में असाधारण महंगाई के कारण भारतीय जनता को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

१९३९ में अग्रेज़ों के एक मौन-समर्थक के अनुसार जो तथ्य १९४७ में ब्रिटिश शासन के अन्त तक भी वैसे ही सही रहे वे हैं : भारत के ३० करोड़ लोगों में से सूक्ष्मांश केवल २० लाख व्यक्ति ही, उद्योगों में काम करने वाले थे। इस्पात का उत्पादन १० लाख टन से भी और कम था; एक विराट जनसंख्या जिसका ८०% जीवन-यापन सर्वथा गतिहीन, अति संकुलित कृषि अर्थ-व्यवस्था पर निर्भर था।[२२३]

१९वीं शताब्दी के मध्यकाल तक भी लगभग ५५% लोग ही कृषि पर निर्भर थे,[२२४] जबकि भारत के उद्योग और व्यापार पूर्णरूपेण अथवा अर्धरूपेण ध्वस्त कर दिये जा चुके थे। इससे पूर्व, जब उद्योग और कृषि में पूर्ण पारस्परिक ताल-मेल था, तब अवश्य ही कृषिकरण (अधिकाधिक जनसंख्या के कृषि पर निर्भरता के अर्थ में) और प्रगतिशील अनौद्योगीकरण भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की महत्वपूर्ण युगान्तकारी घटनाएं थीं। ब्रिटिश राज्य के समाप्त होते-होते भारत की आयातित वस्तुओं में तैयार माल और जनता के लिए अन्न प्रमुख थे। भारी और आधारभूत उद्योग या तो पूर्णतया लुप्त थे अथवा उनका विकास बहुत ही अपर्याप्त था।

❑❑❑

छठा अध्याय
कृषि और कृषक

भूमिका

विश्व के स्वतन्त्र देशों में, उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में कृषि पर जनसंख्या की निर्भरता घटती गई, जबकि उद्योगों और सेवा क्षेत्रों में जन–निर्भरता बढ़ती गई, परन्तु भारत में ठीक इसके विपरीत हुआ। जैसा कि पहले कहा जा चुका है उद्योग और व्यापार, बैंकिंग तथा जहाजरानी, १९वीं शताब्दी के मध्य तक लगभग समाप्त कर दिये गए थे। कृषि ही एक ऐसा महत्वपूर्ण उद्योग बच गया था, जिसकी ओर जीवित रहने के लिए भारतीय लोगों को एकत्र होकर शरण लेनी पड़ी। कृषि और उद्योग का आपसी तालमेल पूर्णतः नष्ट कर दिया गया था, जबकि भारतीय कृषि और ब्रिटिश उद्योग के बीच तालमेल पक्की तरह से स्थापित कर दिया गया था। राष्ट्रीय आय के स्रोत जिनका विस्तार करना सरकार का दायित्व होता है, संकुचित करके मुख्यतः कृषि तक ही सीमित कर कर दिए गए थे।

ब्रिटिश शासन की समाप्ति तक भी कृषीकरण और अनुद्योगीकरण का लगातार बढ़ते जाना एक तथ्य था। कृषि पर जनसंख्या की अतिसंकुलता तथा किसी और कारोबार का लगभग न होना जिसको अधिकांश जनसंख्या अपना सकती– यही भारतवर्ष की गरीबी का. मूल कारण था। इस तथ्य को, इतना पहले जितना की १८८०, उस सरकारी अकाल आयोग ने भी स्पष्टतया स्वीकार किया, जो १८७८ में ब्रिटिश शासन में बढ़ती हुई भारत में अकालों की समस्या पर विचार करने के लिए नियुक्त किया गया था: ''भारतीय जनता की अधिकांश गरीबी और कमी के मौसम में उत्पन्न होने वाले खतरों की सम्भावना

का मूल कारण दुर्भाग्य से यही है कि जनता के जीवन-यापन का लगभग एकमात्र व्यवसाय कृषि ही है। इस दुर्गति को दूर करने का कोई उपचार सफल नहीं होगा, यदि व्यवसायों की विविधता नहीं अपनायी जायेगी, जिससे कि कृषि पर से बढ़ती हुई आबादी की निर्भरता को घटाकर दूसरे उद्योगों तथा ऐसे ही अन्य रोज़गारों में जनता को काम मिल सकें।''[२२५]

यह उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है कि अंग्रेजों ने व्यवसायों का वैविध्य विस्तार कर गरीबी के इस मूल कारण को मिटाने का किंचित भी प्रयास कभी नहीं किया।

जोतों का उप-विभाजन और विखण्डन

अंग्रेज़ों के पूर्वकाल में, भारत में ज़मीन का विनियम मूल्य कुछ भी नहीं था और श्रम महंगा था। ब्रिटिश शासन के दौरान गांवों और शहरों के करोड़ों लोगों को अपने उद्योगों तथा व्यवसायों से हाथ धोना पड़ा। अतः वे ज़मीन की तरफ दौड़े। फलस्वरूप ज़मीन महंगी हो गई और श्रम सस्ता एवं प्रति कृषक धरती के अनुभाग में भी कमी आई, और यह कृषक तथा जमीन का अनुपात सम्पूर्ण ब्रिटिश शासनकाल में घटता ही गया, क्योंकि लोगों की कृषि पर निर्भरता बढ़ती ही गई। १९१७ में बम्बई के कृषि-निर्देशक डॉ० मान ने कृषकों की जोतों के बारे में दक्षिण में पूना के निकटवर्ती एक गांव का विस्तृत सर्वेक्षण किया। इस रिपोर्ट का हवाला देते हुए जिसके 'निष्कर्ष बहुधा भारत भर के लिए सत्य हैं', थामसन और गैरेट लिखते हैं: ''यह स्पष्ट है कि पिछले साठ-सत्तर वर्षों में भूमि जोतों का स्वरूप बिलकुल बदल गया है। ब्रिटिश-पूर्व, और ब्रिटिश शासन के आरंभिक काल में प्रायः जोतों का आकार खासा बडा होता था, ९-१० एकड़ से बहुधा अधिक होता था, जबकि

दो–एकड़ से कम की जोत तो किसी के पास शायद ही हो। परंतु अब जोतों की संख्या दुगुनी से भी अधिक हो गई है और ८१% खेतों का आकार १० एकड़ से कम है, जबकि ६०% का ५ एकड़ से भी कम है।''[२२६]

१९१२ में, सर टी० डब्ल्य० होलडरनैस ने कल जनसंख्या और जोत की धरती के माप के बाद अनुमान लगाया कि ''कृषि पर पूर्णतः निर्भर लोगों के पास ज़मीन सवा एकड़ प्रति व्यक्ति से अधिक नहीं है।'' वह आगे कहता है कि ''भारत की ज़मीन न केवल अपनी अपार जनसंख्या का पेट ही भरती है...अपितु उसका बहुत बड़ा भाग विदेशों को निर्यातित फसल उगाने के लिये आरक्षित है...वास्तव में कृषि की उपज की बिक्री से ही मुख्यतः आयातों, सरकारी खजाने और भारत के अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का भुगतान किया जाता है। इस प्रकार विदेशी बाजारों की आवश्यकता की पूर्ति करने वाली जमीन को कुल भूमि में से घटाने पर, हमें पता लगेगा कि बची हुई भूमि प्रत्येक भारतीय के हिस्से में एक एकड़ के दो–तिहाई भाग से अधिक नहीं आती। अतः एक एकड़ के दो–तिहाई भाग भूमि से जो कुछ उपज सकता है उससे भारतीय जनता का पेट भरता है तथा कुछ सीमा तक शरीर भी ढकता है। कदाचित ही, विश्व का कोई ऐसा देश हो जहां भूमि पर इतना भार है।''[२२७]

विशाल जनसंख्या के इस प्रकार जमीन पर निर्भर होने से न केवल जोतों के आकार छोटे हो गये हैं, अपितु जमीन की कीमत और किराये भी भारी मात्रा में बढ़ गये। इसके परिणामस्वरूप छोटी जोतों का विखण्डन हुआ क्योंकि भूमि के अधिक उप–विभाजन में और उसके भारी किरायों और कीमतों में निश्चय ही एक परस्पर सम्बन्ध है। भूमि का यह विखण्डन इस बेतुकी स्थिती तक पहुंच गया कि ऐसे उदाहरणों

की कमी नहीं है जहां पर एक एकड़ भूमि २० हिस्सों में बांटी गई। ऐसी स्थितियों में कृषि का मशीनीकरण तो क्या परम्परागत विधियों का पूर्णतः प्रयोग भी असम्भव हो गया। परिणामस्वरूप अन्न का उत्पादन बहुत घट गया। कम अन्न उत्पादन के और भी कारण थे, जैसे कि भूमि धारण एवं मालगुजारी दोनों की ऐसी व्यवस्था जो भारतीयों के शोषण लिए और उनको अपने शिकंजों में जकड़े रखने के लिए अंग्रेजों ने आरम्भ की थी।

भूमि धारण एवं मालगुजारी की पद्धति

ब्रिटेन के विपरीत ब्रिटिश-पूर्व के भारत में ज़मीन पर सरकार का किसी भी दृष्टि से स्वामित्व नहीं होता था। सरकारों का आय का कुछ भाग लेने का ही केवल एक अधिकार था, जो वह सीधा या ज़मींदारों के माध्यम से इकट्ठा किया करती थी और जिससे ज़मींदार अपनी मेहनत के लिए निश्चित सैकड़ेवारी स्वयं रखकर शेष सरकार को दे दिया करते थे। यहां तक कि यदि राजा को निजी आवश्यकता पड़ती, तो उसे भी ज़मीन खरीदनी पड़ती थी। जब तक कि कृषक उपज का निश्चित परंपरागत अंश सरकार को देता रहता, जो साधारणतया जिन्स में ही, अथवा चाहे तो मुद्रा में देता रहता था, तब तक कृषक को अपनी भूमि पर विरासत का तथा हस्तान्तरण का अधिकार होता था। कोई भी शक्ति जमीदार की या राजा की, कृषक को खेत से वंचित नही कर सकती थी यह भी बिट्रेन के विपरीत था जहाँ कृषक केवल एक श्रमिक होता था। कभी-कभार जब कृषक अपना परंपरागत अंश देने में असमर्थ हो जाता और उसको ज़मीन छोड़ने का आदेश दिया जाता, तब भी उस भूमि का स्वामी ज़मींदार अथवा राजा नहीं बनता था, अपितु यह भूमि ग्रामीण प्रशासनिक समितियों अर्थात् पंचायतों द्वारा बकाया अदा करने के पूरे अवसर तथा समय देने के बाद, किसी और कृषक

को दे दी जाती थी। गृह–युद्धों के काल १७०७ में, औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात की गड़बड़ में ज़मींदारों ने ज़मीन की उपज का भाग जिसे मालगुज़ारी कहते है बढ़ा दिया। परन्तु फिर भी उनका यह भाग वार्षिक उत्पादन पर निर्भर होता था, न कि भूमि धारण के आधार पर, उपज का ध्यान किये बिना, पूर्व–निश्चित होता, जैसा कि ब्रिटिश शासन में था।

यह बढ़ाई गई मालगुज़ारी भी, अंग्रेज़ों द्वारा लगाई मालगुजारी की अपेक्षा कहीं कम थी, अंग्रेज़ों द्वारा जीते गए प्रत्येक राज्य से जितनी मालगुजारी वसूल की जाती थी, वह पहले के मकाबले में कहीं अधिक थी। बंगाल में अंग्रेज़ों ने अपनी सत्ता के आरम्भ होने के बाद कितनी मालगुजारी बढ़ा दी थी यह पहले बताया जा चुका है। १८१६ में अंग्रेज़ों ने दक्षिण जीता। १८१७ में इसकी मालगुजारी ८००,००० पौंड थी, जबकि १८१८ में बढ़ाकर, अंग्रेजों ने १,१५०,००० पौंड कर दी और कुछ ही वर्षों बाद १,५००,००० पौंड की।[२२८] पंजाब में अंग्रेज़ों का आधिपत्य १८४९ में हुआ। १८४७–४८ में पंजाब की मालगुजारी ८२०,००० पौंड थी, अंग्रेज़ी सत्ता के केवल तीन ही वर्षों में इसको बढ़ाकर १,०६०,००० पौंड कर दिया गया। मूल्यों में आई गिरावट के कारण कृषक और भी दुखी हो गये, जिनको अब की तरह जिन्स में मालगुजारी देने के विपरीत, मालगुजारी धन में देनी पड़ रही थी।[२२८अ] जब कृषक जिन्स में मालगुजारी दे सकते थे, तब सरकार भी अच्छे और बुरे वर्षों में भूमि में फसल की उपज की अनुपात से साझीदार होती थी।

ब्रिटिश शासन के आरम्भ से १७९३ तक, सरकार एक से पांच वर्ष तक भूमि–व्यवस्था करती थी। यह मालगुज़ारी परम्परागत ज़मींदारों के माध्यम से (जो भूस्वामी नहीं, बल्कि केवल मालगुजारी संग्राहक

ही होते थे) एकत्रित करने की बजाय देशीय एजेंटों या सरकारी निरीक्षकों के माध्यम से वसूली जाती, जिनकी उपाधि १७७० में बदलकर कलक्टर कर दी गई थी। इसके अलावा कर वसूली के तरीके अत्यन्त निष्ठुर और खूंखार थे। हम एक आयुक्त की रिपोर्ट का संदर्भ नीचे देते हैं जिसने अंग्रेजों के लिए अधिकतम मालगुज़ारी इकट्ठी करने में लगे एक कलक्टर की 'भयावह और वहशी घोरता' की जांच की। इस आयुक्त के अनुसार किसानों के साथ किये जाने वाले ''दुर्व्यवहार पर कभी भी विश्वास न हो सकता यदि कम्पनी के लेखों से इसकी तसदीक न हो गई होती।''

''किसानों के पशुओं और अन्न को एक तिहाई कीमत पर बेच दिया जाता था तथा उनकी झोपड़ियों को जलाकर राख कर दिया जाता था। इन भाग्यहीनों को सूदखोरों से कर्ज लेना पड़ता ताकि वे अपने तमस्सुक को निभा सके जो उनसे अनुचित और अवैध तरीको से लिखवाये गए थे, जबकि वे कारावास में थे। कलक्टर को संतुष्ट करने के लिए उनकों २० अथवा ४० या ५०% ब्याज पर नहीं, वरन ६००% ब्याज पर ऋण लेना पड़ता था। जो पैसा उधार नहीं ले सकते थे, उन्हें अत्यन्त निर्दयता से यातनाएं दी जाती थीं। उनकी उंगलियों को रस्सियों के साथ कड़ी मज़बूती से बांधकर तब तक कसा जाता था जब तक कि दोनों हाथों की चारों उंगलियां मांस का एक लोथड़ा न बन जातीं। उसके बाद उंगलियों में,लोहे और लकडी के फाड़े फंसाकर उनको अलग किया जाता था। अन्य लोगों को दो-दो जोड़ी में उनके पैरों को बांधकर लकड़ी की सलाख के सहारे उलटा लटका दिया जाता था। उसके पश्चात् उनके पैरों के तलुओं पर तब तक मारा जाता था जब तक कि उनकी पादांगुलियों के नख टूटकर गिर नहीं जाते। तत्पश्चात् उनके सिरों पर तब तक मारा जाता, जब तक कि उनके मुँह, नाक और कानों से

खून बहने न लगता, उनके नंगे शरीरों पर बांस की छड़ियों, कंटीली झाड़ियों और किसी प्रकार के जहरीले सरकड़ों, जो छूने से ही शरीर में जलन पैदा करते थे, से मारा जाता था। जिस राक्षस ने यह सब करने का आदेश दिया, उसने मन तथा शरीर दोनों को ही दुखी करने का यह उपाय निकाला था। वह नंगे पिता और पुत्र के हाथ और पैर एक दूसरे के साथ बहुधा बांध देता था। और उनको तब तक कोड़ों से मारता रहता था जब तक कि खाल मांस से अलग न हो जाती और उसको यह जानकर घृणित संतुष्टि होती थी कि प्रत्येक प्रहार से चोट लगेगी ही क्योंकि यदि एक प्रहार पुत्र पर न पड़ा तो उसको यह जानकर कि वह प्रहार उसके पिता पर पड़ा है, उसकी संवेदनशीलता को चोट पहुँचती थी। इसी प्रकार की यंत्रणा पिता को भी होती थी, जब उसको यह मालूम होता था कि प्रत्येक प्रहार जिससे वह बच गया है उसके पुत्र पर पड़ा है।

''स्त्रियों के साथ किए गए दुर्व्यवहार का वर्णन नहीं किया जा सकता। उनको अपने घरों के भीतरी स्थानों में से, जिनको देश के धर्मानुसार पुण्य स्थान समझा जाता था, घसोट कर खुले आम नंगा किया जाता था। कुंवारियों को न्यायालय में ले जाया जाता, जहां स्वभावतः वे संरक्षण की आशा करती थीं, परन्तु ऐसी आशा न्यायालयों से करना व्यर्थ था, वहां उन कोमल और भोलीभाली कुंवारियों से, न्यायाधीशों के सम्मुख और सब दर्शकों के सम्मुख दिन दहाड़ें बड़ी निर्दयता से बलात्कार किया जाता था। उनके और उनकी माताओं के साथ किये जाने वाले इस दुर्व्यवहार मे केवल इतना ही अन्तर था कि लड़कियों को दिन–दहाड़े और माताओं को अंधेरी काल कोठरियों में बन्द करके बेइज्जत किया जाता था। अन्य नारियों के स्तनागों को फटे बांस के बीच में दबाकर बोच दिया जाता था।''

"इस रिपोर्ट का उल्लेख करने के बाद होविट लिखते हैं," इसके बाद क्या हुआ इसका वर्णन करना महाघृणित और लज्जाजनक है।...इस प्रकार के अमानवीय कृत्य अंग्रेजों के प्रतिनिधियों द्वारा अंग्रेजों के लिए मालगुज़ारी खसोटने के लिए किए जाते थे। परन्तु केवल यह अत्याचार ही गरीब जनता को सहने नहीं पड़ते थे, अपितु अंग्रेज़ी न्यायालय भी, जिन्हें कि गरीबों का संरक्षण करना चाहिए था, इनके साथ किए गए अत्याचारों और विनाश के एक और माध्यम बने।"[२२९]

अंग्रेजों की इन अमानवीय नीतियों के कारण १७६९-७० में एक अकाल पड़ा जो "बंगाल में ब्रिटिश शासन के पदार्पण का एक भयावह कालचित्र था।"[२२९अ]

जिससे बंगाल की कुल ३ करोड़ जनसंख्या का सरकारी गिनती के अनुसार, एक तिहाई भाग मौत के घाट उतर गया, यद्यपि कुछेक अंग्रेज़ प्रयत्क्ष-दर्शियों के अनुसार कुछ जनसंख्या का आधा अर्थात १½% करोड़ लोगों की मौत हुई।[२३०] १७वीं और १८वीं शताब्दी में बंगाल को ऐसे विनाशकारी अकाल का सामना कभी नहीं करना पड़ा था।

कम्पनी के कर्मचारी अपने व्यक्तिगत लाभ कमाने के उद्देश्य से चावलों का निजी व्यापार करते थे। सारे चावलों को जो लोगों का प्रधान खाद्य था, वे बहुत सस्ते दामों पर खरीदते और अत्यन्त महंगे दामों पर बेचते, जिसके कारण ही वास्तव में दुर्भिक्ष पड़ा। वे और उनके प्रतिनिधि "किसानों की अल्प उपज को मनमाने मूल्यों पर खरीदने, दूसरे प्रान्तों से चावल आयात करने वाली नावों के रोकने और खाली करने, तथा गरीब किसानों को अगली उपज के लिए आवश्यक बीज तक भी बेचने को मजबूर करने के आरोप के आज तक भी "उत्तरदायी हैं।"[२३१]

कम से कम एक करोड़ लोगों के जीवन पर खेलने वालों के विरुद्ध सरकार ने कभी कोई भी जांच नहीं की और न ही इतना अतिशय लाभ कमाने वालों को कोई दंड दिया। यद्यपि दुर्भिक्ष के कारण एक तिहाई भूमि बंजर पड़ी रही और एक से डेढ़ करोड़ लोग मर गए, ऐसी अवस्था में भी सरकार ने मालगुजारी घटाने की बजाय बढ़ाई ही। किस प्रकार मालगुजारी इकट्ठी की गई और किस प्रकार मृतकों के लिए जीवितों ने इसको अदा किया, इसका वर्णन तत्कालीन गवर्नर जनरल वारेन होस्टिंग्स ने कम्पनी के निदेशकों को लिखे अपने ३ नवम्बर १७७२ के एक पत्र में किया है जिसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं; ''परन्तु इसका (अकाल १७७०-७१ का) सरकार की आय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और न ही सरकार को कुछ महसूस हुआ, यदि महसूस हुआ भी तो केवल उन लोगों को जिनसे यह इकट्ठा किया गया। क्योंकि इसके बावजूद भी कि प्रांत के १ से कम एक तिहाई लोग मर गए और परिणामतः उपज में कमी आई, तब भी १७७१ में संगृहीत असली मालगुजारी १७६८ से भी अधिक हुई... यह अपेक्षा करना स्वाभाविक था कि इतनी भारी विपत्ति के कारण अन्य परिणामों के अतिरिक्त मालगुज़ारी में भी कमी आती। परन्तु ऐसा नहीं हुआ क्योंकि मालगुजारी को पूर्वस्तर पर कायम रखने के लिए हिंसात्मक तरीके अपनाये गए। यह निश्चित जानना आसान नहीं है कि कौन-कौन सी हिंसात्मक विधियां अपनायी गई...परन्तु फिर भी एक कर का हम वर्णन करेंगे.. ..इसे जज़िया कहा जाता है जो कर, उस किराये की कमी को पूरा करने के लिए, जो मृतक अथवा गांव से भागे पड़ोसियों को देना था, प्रत्येक घटिया से घटिया भूमि के निवासियों पर लगाया जाता है।...''[२३२] उस वर्ष में, जबकि ''सारी जनसंख्या का ३५ प्रतिशत और किसान-जनसंख्या के ५० प्रतिशत मर गए'', भूमि कर में कोई छूट देना तो दरकिनार, आगामी वर्ष १७७०-७१ में १० प्रतिशत की और वृद्धि कर दी गई।[२३३]

१७७०-७१ का दुर्भिक्ष ऐसे अकालों की लम्बी शृंखला में केवल एक पहला अकाल था, जो एक दूसरे के पश्चात् जल्दी-जल्दी पड़ते रहे, दूसरा दुर्भिक्ष १७८४ में, तीसरा १७८७ में और चौथा १७९० में पड़ा। अकालों का विवेचन हम बाद में करेंगे।

स्थायी भूमि-बन्दोबस्त

कृषक इन अत्याचारियों की लूटने वाली और असीम कर प्रवृत्तियों को बहुत देर तक सहन नहीं कर सके। परिणामतः अठारहवीं शताब्दी के सातवें और आठवें दशक में सरकार के विरुद्ध यत्र-तत्र विद्रोह होने लगे। इस कारण अंग्रेज़ों को मालगुज़ारी बढ़ाने के अलावा अपने साम्राज्य की सुरक्षा और स्थिरता के लिए किसी आधार की आवश्यकता हुई। इस आधार को उन्होंने कुछ ऐसे लोगों की सहायता से प्राप्त कर लिया जो अंग्रेज़ों पर अपनी रोटी तक के लिए भी निर्भर थे अतः उनके वफादार थे। ये थे अंग्रेज़ी अफसरों के अधीन भारतीय सेना, पुलिस और नागरिक सेवा के सरकारी, साहूकार, जमीदार अथवा भूस्वामी, और देशी राजा। ये सब भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के आश्रय और आधार-स्तम्भ थे जो अपने जीवन यापन और अस्तित्व के लिए अंग्रेजों के सामान्यतः पक्के वफादार रहे। अंग्रेज़ भी इन सामन्तवादियों और प्रतिक्रियावादियों के अपने शासनपर्यन्त विश्वासपात्र रहे, क्योंकि इन्हीं के लिए, पर भारत में उनका साम्राज्य टिका हुआ था।

१७९३ के स्थायी भूमि-बन्दोबस्त के अनुसार जमींदारों को भू-स्वामी बना दिया गया जो वे पहले कभी नहीं थे। इसके वास्तविक उद्देश्य के विषय में स्वयं गवर्नर-जनरल ने ८ नवम्बर १८२९ को अपने भाषण में बताया: ''यदि व्यापक विद्रोह या क्रांति के विरुद्ध सुरक्षा की आवश्यकता है, तो मैं यह कहूंगा कि, यद्यपि स्थायी भूमि बन्दोबस्त में कई दोष हैं, फिर भी इसका कम से कम यह बहुत बड़ा लाभ हुआ है

कि इसके कारण धनी भूस्वामियों का बड़ा समूह उत्पन्न हो गया है, जो अंग्रेज़ी राज्य को बनाये रखने के महाइच्छुक हैं और जिनका जनता पर पूरा नियंत्रण है।''[२३४]

ब्रिटिश-समर्थक यह तर्क देते है कि अंग्रेजों ने उस समय की भू-परम्परा को न जानते हुए इस प्रथा का आरम्भ किया। परन्तु यह तो केवल एक बहाना मात्र है। तथ्य तो यह है कि कॉर्नवालिस को स्वयं इस बात का पूर्ण ज्ञान था कि वह क्या कर रहा है।''[२३५] किसान जो पहले भू-स्वामी थे, अब केवल पट्टेदार बनकर रह गये, जिन्हें जमींदार की इच्छा पर कभी भी हटाया जा सकता था। यदि वे सरकार को कर देने में असमर्थ रहते, तो इन ज़मींदारों को सर्वोच्च मालिक अर्थात अंग्रेजों द्वारा हटाया जा सकता था। स्थायी भूमि बन्दोबस्त बंगाल, बिहार, उड़ीसा और बाद में मद्रास के कुछ भागों में लागू किया गया। सरकार का भाग उस कुल कर का ९० प्रतिशत स्थायी रूप से निश्चित कर दिया गया जो किसान बन्दोबस्त के समय देता था, और १०% भाग ज़मींदार को मिलता था। इस प्रकार बंगाल से ३० लाख पौंड सरकार का भाग निश्चित किया गया जो मालगुजारी में बहुत भारी वृद्धि थी। इसके बारे में कुछ भी नहीं कहा गया कि ज़मींदार खेती करने वालों से कितना किराया प्राप्त कर सकते हैं। ऐसा करके ज़मींदार को पट्टेदारों के विरुद्ध सरकार ने मानो 'कोरा चैक' दे दिया। इन आंकड़ों की तुलना स्वयं इंग्लैंड की स्थिति से की जा सकती है। १७९८ के पूर्व १०० वर्ष के बीच इंग्लैंड में किराये का ५ से २० प्रतिशत तक भूमिकर था। १७९८ में विलियम पिट ने इसे स्थायी किन्तु परिवर्तनीय बना दिया।

अनेक प्राचीन ज़मींदार, जो कृषकों और उनकी समस्याओं के विषय में अभी भी उदार थे, इतने भारी कर को एकत्रित नहीं कर सके। अतः उन्हें हटाकर नये ज़मींदारों की नियुक्ति की गई, जो बहुधा शहरी

थे और जिन्हें कृषि का बिलकुल भी ज्ञान नहीं था और न ही उसमें कोई रुचि थी। उनकी रुचि तो केवल इतनी ही थी कि किस प्रकार प्रत्येक सम्भव ढंग से अधिकाधिक कर एकत्रित किया जाए। यदि कोई भी पट्टेदार जमींदार की मांग को पूरा करने में असमर्थ होता था, तो उसे तुरन्त हटाकर ऐसे नये व्यक्ति को नियुक्त कर दिया जाता जो उसका स्थान लेने को तत्पर होता। हटाऐ गए पट्टेदार के पास और कोई भी जीवन यापन का साधन न रहता और न ही वह कहीं जा सकता था, तथा न ही अन्य कोई व्यवसाय उसे मिल सकता था, इसका परिणाम ऐसे पट्टेदारों का सर्वनाश था। केवल यही नहीं भू-कर की शिकमी देने की प्रथा में बढ़ोतरी होने के कारण ज़मींदार और पट्टेदार के बीच बहुत सारे बिचौले पैदा हो गए। प्रत्येक बिचौला अपने लाभांश को अपने ऊपर वाले बिचौले के लाभांश में जोड़ देता था। अन्ततः इन सब बिचौलों के लाभांश, और कर एवं किराये का बोझ पट्टेदार पर बहुत भरकम पड़ता था। ऐसी परिस्थिति में उसे पैदावार बढ़ाने अथवा भूमि में सुधार करने की कोई प्रेरणा नहीं करती थी क्योंकि उसे पता था कि उसका सर्वाधिक भाग तो जमींदार और सरकार को येन-केन-प्रकारेण चले ही जाना है। जमींदार को भी अपनी भूमि सुधारने की कोई प्रेरणा नहीं होती थी क्योंकि वह खेती-बाड़ी से अनभिज्ञ शहरी होता था। इसके अलावा उसको पता था कि अपने खेतों पर जाये बिना भी, उसको विलासितापूर्ण जीवन बिताने के लिए पर्याप्त धन मिलेगा ही क्योंकि किसान को तो अपने और अपने परिवार को मौत के मुँह से बचाने के लिए अपना खून-पसीना बहाना ही होगा। ज़मींदार को पूर्णतया मालूम था कि उसकी स्थिति ब्रिटिश सरकार के कानून, सेना व पुलिस द्वारा सुरक्षित है। ऐसी परिस्थितियों में कृषि का ह्रास होना निश्चित था।

बंगाल के उपराज्यपाल के अनुसार, ''एक ओर सामन्तवाद और दूसरी और कृषि-दास-प्रथा बंगाल की भू-व्यवस्था के प्रमुख तत्व थे।''[२३५अ] एक कृषि विशेषज्ञ कहते हैं- ''युद्ध, दुर्भिक्ष और महामारी के बाद ग्रामीणों के लिए सबसे घातक स्थिति अनुपस्थित ज़मींदारी प्रथा है।''[२३६] अंग्रेज़ों ने इस प्रथा का पहले स्थायी बन्दोबस्ती क्षेत्रों में और अन्ततः सारे देश में उद्घाटन किया। ''थ्री प्रजिडेन्सीज़ ऑफ इंडिया'' का लेखक स्थायी बन्दोबस्त के घातक परिणामों के बारे में हमें बतलाता है। ''बंगाल की मालगुजारी को पक्का और लाभकारी बनाकर, लार्ड कार्नवालिस ने संसार में कहीं भी किये जाने वाले कुकृत्यों में से एक अधिकतम अनुपयुक्त कार्य किया और एक महानतम भूल की।...आदेश होने पर दो करोड़ छोटे भूस्वामियों को मानो अपने हाथ-पैर बांधकर अधिकारों से वंचित कर और दास बनाकर निष्ठुर लगान वसूलने वालों की दया पर छोड़ दिया। इस विशाल डकैती द्वारा किया गया अन्याय यद्यपि बहुत बड़ा था, फिर भी जुल्मों का अन्त यही नहीं था। अनुपयुक्त कार्यों पर अनुपयुक्त कार्य किए गए; धोखे पर धोखा किया गया।...इस प्रख्यात बन्दोबस्त के बारे में लार्ड ब्रोम ने कहा है कि इसने हर बीस में से अट्ठारह शिलिंग किसान से निचोड़ लिये हैं। इस ज़मींदारी प्रथा से किसानों पर हो रहे जुल्म, कई प्रकार के बिचौलों का भू-कर की शिकमी देने से और भी अधिक बढ़ गये हैं। ये बिचौले जिले के ज़मींदारों और किसानों के बीच आकर अपने लाभांश को ज़मींदारों के लाभांश से मिलाते हैं, और उनकी निर्धारित समय में किसानों से जितना भी हो सके लूटने के अतिरिक्त इस विषय में और कोई रुचि नहीं हैं। अभागे खेतीहरों का खून वे तब तक पीते हैं जब तक कि कई वर्षों की कड़ी मेहनत और जुल्मों से बेबस हुआ बेचारा किसान ज़मीन छोड़कर भाग नहीं जाता। यदि उसमें अभी इतनी

हिम्मत बाकी नहीं है कि- वह डाकू बन जाये तो बहुत सम्भवतः वह जंगल में भूख से मर जाता है (बंगाल के माल-गुज़ारी-बोर्ड के श्री एच० सी० क्रिश्चयन द्वारा इस विषय पर १८३० में संसदीय समिति के सम्मुख दी गई गवाही के आधार पर यह सत्यापति किया जा सकता है कि मैं यह सब कल्पना नहीं कर रहा)...उपयुक्त विवरण के साथ प्रत्येक अवसर पर ग्रामीणों से आवाब अथवा उपहार खसोटने की अन्यायी प्रथा का वर्णन भी देना उचित होगा। हर तीज-त्योहार के अवसर पर ज़मींदार द्वारा ग्रामीणों को भेंट के बहाने लूटा जाता है।...केवल ज़मींदार ही ऐसा शोषण नहीं करते बल्कि नायब या लेखाकार, जो बही खाते में गलत लिखवाने में सहायता करते हैं, से लेकर आवाब के पायकों तक भी, ज़मींदारों के गुमाश्ते इस प्रकार से लूटते हैं।.. यद्यपि कहने में किसानों की यह भिखभंगी जाति, अंग्रेजों की स्वतन्त्र प्रजा है, परन्तु वास्तव में यह क्यूबा के दासों अथवा रूस के कृषि-दासों से भी कहीं बदतर और उपेक्षित हैं।''[२३७]

ब्रिटिश शासन के लगभग १०० वर्ष बाद डॉ० मार्शमैन ने १८५२ में बंगाल के कृषकों की स्थिति के बारे में लिखाः ''आजतक इस तथ्य का प्रतिवाद किसी ने भी करने का प्रयत्न नहीं किया कि बंगाल के कृषकों की स्थिति लगभग इतनी फटेहाल और निकृष्ट है जितनी कि कोई सम्भवतया कल्पना भी नहीं कर सकता अत्यन्त कष्टदायी छप्परों में, जहां कुत्तों के लिए भी मुश्किल से स्थान होगा, फटे-पुराने चिथड़ों में वे रहते हैं और बहुत सारे तो अपने एवं अपने परिवार के लिए एक समय का भोजन भी जुटा नहीं सकते। बंगाल की रैयत को जीवन की अतीव सामान्य सुविधाओं का भी कुछ नहीं पता। हम यह अतिशयोक्ति बिना कह रहे हैं कि यदि किसी को भी उन लोगों की असली स्थिति का,

जो वार्षिक ३,०००,००० पौंड और ४,०००,००० पौंड के बीच उपज पैदा करते हैं, पूर्णरूपेण पता लग जाए तो उसके रोंगटे खड़े हो जाएंगे।''[२३८]

जब स्थायी बन्दोबस्त लागू किया गया था तब इतनी अधिक कर की राशि बढ़ा दी गई थी जितनी किसी भी सरकार द्वारा उस समय सम्भव नहीं थी। परन्तु बन्दोबस्त के बाद घटित कई अप्रत्याशित कारणों से सरकार का निर्धारित स्थायी भाग ज़मींदार के भाग से कम हो गया। सरकार कृषकों पर की गई लूट-खसोट में स्वयं सीधा भागी नहीं हो सकती थी क्योंकि उन्होंने मालगुजारी न बढ़ाने का वचन दिया था यद्यपि सरकार ने कुछ हद तक दूसरे कर लगाकर, जिनको अब 'उपकर' कहा जाता था, मालगुजारी को बढ़ाया। इस प्रकार सरकार को धन में घाटा पड़ रहा था। इसलिए भविष्य में सभी बन्दोबस्त अस्थायी बनाये गए।

रैयतवाड़ी पद्धति

रैयत का अर्थ है 'किसान' और सरकार तथा कृषक के बीच सीधा बन्दोबस्त रैयतवाडी प्रथा के नाम से कहा जाता है। यह प्रथा बम्बई, मद्रास (कुछ हिस्सों को छोड़कर) और पंजाब तथा कुछ अन्य भागों में, भारत के कुल इलाके के ५१% भाग पर प्रचलित थी। प्रारम्भ में यह बन्दोबस्त वार्षिक या ५ अथवा १० वर्ष के लिए होता था यद्यपि बाद में २० से ४० वर्ष तक होने लगा। कृषक को भूस्वामी तब तक निकाल नहीं सकता था, जब तक कि वह निर्धारित मालगुज़ारी देता रहता। परन्तु सरकार की मालगुज़ारी की मांग बहुत ही अधिक थी। इससे भी बुरी बात यह भी कि यह निश्चित न होकर बदलती रहती थी और ब्रिटिश पूर्व भारत के विपरीत स्थायी नहीं थी। जहां स्थायी

बन्दोबस्त के क्षेत्रों में पहले ज़मींदार अत्यधिक कर लेकर अंग्रेजों को देते थे, वहां रैयतवाड़ी व्यवस्था में वह सीधा अंग्रेजों द्वारा ही लिया जाता था, स्थायी बन्दोबस्त क्षेत्रों में किसान से अधिकाधिक लूटने के लिए, ज़मींदार द्वारा खूखार तरीके अपनाये जाते थे; किन्त रैयतवाडी क्षेत्रों में सरकार के मालगजारी अफसर स्वयं (बहुत थोड़े लोगों को छोड़कर) ऐसी ही विधियां अपनाते थे। परिणामतः भूमि का असली स्वामी किसान वास्तव में दास अथवा कृषिदास हो गया। एक प्रख्यात भारतीय अर्थशास्त्री का मत है कि; ''कम्पनी का कृषकों के ऊपर इतना ही प्रभुत्व था जितना कि एक स्वामी का अपने दासों पर रहता है, और वह किसान से वह सब कुछ छीन सकती थी जो उन्हें जीवित रखने के लिए आवश्यक नहीं थां'' एक निदेशक का कथन था कि, ''मेरी विचार में इसको छिपाया या अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि इस (रैयतवाड़ी) प्रथा का उद्देश्य सरकार के लिए अधिक से अधिक कर प्राप्त करना है जितना कि भूमि उत्पन्न कर सकती है।''[२३९] केवल जनता ही नहीं कम्पनी के कुछ कर अधिकारियों ने भी यह महसूस किया कि कृषकों पर भू-कर अत्यन्त अधिक है जिसने उनको भिखमंगों की जाति बनाकर रख दिया है। कम्पनी से कर कम करने की निष्फल सिफारिश भी उन्होंने की, परन्तु अग्रेंज़ों ने जनता पर अपनी जकड़ को कभी भी ढीला न छोड़ा।

एक प्रतिष्ठित अंग्रेज़ विशप हैबर ने १८२४-२६ में व्यापक रूप से भारत यात्रा की। मार्च १८२६ को अपने एक पत्र में उसने लिखाः ''मेरे विचार में न देशीय और न ही यूरोपीय किसान, करों की वर्तमान दर के कारण फलफूल सकते हैं। भूमि की कुल उपज का आधा भाग सरकार द्वारा मांगा जाता है, और यह, स्थायी बन्दोबस्त के क्षेत्रों को छोड़कर, लगभग औसतन दर है, जो इतनी अधिक है कि जिसके

कारण, भारतीयों की सामान्य किफायती प्रवृत्तियों और फसल के बहुत अकृत्रिम एवं सस्ते तरीकों के बावजूद भी, किसान के पास जीवन बसर करने के लिए भी पर्याप्त भोजन नहीं रहता। इससे भी अधिक यह सुधार जैसी किसी भी चीज़ के लिए जबरदस्त बाधा है। अनुकूल वर्षों में भी लोगों को यह (कर) अधम निर्धनता में रखता है. और जब तनिक भी फसल मारी जाती हैं, तो पुरुषों, स्त्रियों एवं बच्चों के झुण्ड के झुण्ड गलियों में मरने से और उनकी लाशें सड़कों पर बिखरने से बच नहीं सकतीं।...कम्पनी शासित क्षेत्रों में, देशीय राजाओं की प्रजा के मुकाबले में, किसानों की स्थिति कुल मिलाकर अधिक बुरी, दयनीय और निराशाजनक है। वास्तविकता यह है कि कोई भी देशी राजा इतना कर नहीं मांगता जितना कि हम, और न ही हमारी तरह इतनी कड़ाई से वसूल करता है। मुझे बहुत ही थोड़े सरकारी लोग मिले जो गोपनीय तौर पर यह विश्वास नहीं करते कि लोगों पर कर बहुत अधिक लगाया गया है और देश धीरे-धीरे निर्धन होता जा रहा है। कलेक्टर इस बात को सरकारी तौर से मानना पसन्द नहीं करते।[२४०]

कम्पनी के एक अधिकारी ले० कर्नल ब्रिज्स ने प्राचीन एवं नवीन भारत के भूमि-करों का व्यापक अध्ययन किया। १८३० में उसने एक पुस्तक में लिखाः ''उन सारे यूरोपीय यात्रियों ने, जो पिछली तीन शताब्दियों से पूर्व में घूमने के लिए आए, मुगल बादशाहों के अधीन प्रदेश की फलती-फूलती स्थिति के बारे में लिखा है, और वे भारत को यूरोप से धनधान्य में, जनसंख्या में एवं राष्ट्रीय समृद्धि में कहीं आगे पाकर चकित रह गये। परन्तु हमारी सरकार के अधीन जनता की देश की ऐसी कोई स्थिति नहीं है-ऐसा हम ही प्रतिदिन घोषित करते हैं, और अतः इसको सत्य ही मानना पड़ेगा।..मैं शुद्ध अन्तःकरण से विश्वास करता हूं कि कानून-चलाने वाली कोई भी सरकार, हिन्दू हो

अथवा मुसलमान, आम लोगों की खुशहाली की इतनी विनाशक नहीं होगी जितनी कि हमारा शासन-प्रबन्ध।...हालांकि हमने इस बात को सब जगह माना है कि करों का बोझ लोगों पर एक अत्यन्त बड़ा जुल्म है, फिर भी हमने कभी भी इस बोझ को हल्का नहीं किया...कठोरता से करों को इकट्ठा करके हमने अपनी मालगुज़ारी बढ़ा ली है और जनता की दशा केवल मजदूरों जैसी कर दी है। हमारे शासन का ऐसा घोषित नियम है और भूमि के सम्पूर्ण अधिशेष लाभ को लेने का यह अनिवार्य परिणाम है।...ऐसा भू-कर जो अब भारत में प्रचलित है और जो भूमिधर के सम्पूर्ण किराये को हड़प कर लेता है, यूरोप अथवा एशिया में किसी भी सरकार द्वारा नहीं लगाया गया।[२४१]

१८२५ की भू-कर निर्धारण कार्यवाहियों से सम्बन्धित बम्बई प्रशासन की १८९२-९३ की सरकारी रिपोर्ट के अनुसार, ''दीन-दुखी किसानों से अत्याधिक धन लेने का सब प्रकार से-वैधानिक या अवैधानिक-भरसक प्रयत्न किया जाता था। यदि किसानों से मांगा गया धन वे नहीं दे पाते थे, या नहीं देते थे तो उन पर बहुत अत्याचार किए जाते थे और कुछ पर तो अर्वणनीय क्रूरु और घृणित जुल्म ढाये जाते थे। बहुत सारे तो अपना घर छोड़कर पड़ोसी देशी राज्यों में भाग गए अतः भूमि के बड़े भाग पर खेती न हो सकी, और कुछ जिलों में तो खेती के क्षेत्र के केवल एक तिहाई पर ही खेती हो सकी।[२४२]

मद्रास सरकार की मालगुजारी बोर्ड की १८१८ की एक अन्य सरकारी रिपोर्ट हमें बताती है कि कितनी और कैसे मालगुजारी एकत्रित की जाती थी। केवल कुछ उदाहरण यहां दिए जाते हैं। ''उस समय प्रथा यह थी कि इतना अधिक बन्दोबस्त किया जाय जितना कि इकट्ठा किया जाना सम्भव हो। यदि फसल अच्छी होती, तो भूमापन दरों की भीतरी

मांग को इतना बढ़ा दिया जाता जितना कि किसान के साधन अनुमति देते। यदि फसल खराब होती, तब भी आखिरी दमड़ी तक किसानों से लगान वसूल किया जाता।...किसान को उन सब खेतों पर खेती करनी पड़ती जो उसको मालगुजारी अफसर द्वारा बटाई पर दिए जाते। वह चाहे उनको जोतता या नहीं, उसको, जैसा कि श्री थैकरे ने जोरदार रूप से कहा है, प्रत्येक खेत का कर देना पड़ता। बैलारी के कलेक्टर श्री चैपलिन के शब्दों में ''अपने अधिकार का प्रयोग करते हुए वर्तमान अधिनियमों के विरुद्ध किसान की परिस्थितियों के अनुपात में भूमि की मात्रा को जोतने के लिए किसान को बाध्य करने का ''रैयतवाड़ी'' प्रथा के अन्तर्गत रिवाज था। वह व्याख्या करते हुए बताता है कि किसानों को 'जेल में डालकर और दण्ड देकर' बाध्य किया जाता था...और वह यह भी विशेष रूप से बताता है कि यदि इन अत्याचारों के कारण किसान अपनी जोत के खेत छोड़कर भाग जाता था, तो निश्चित प्रथा यह थी कि वह जहां भी जाता था उसका पीछा किया जाता था, उस पर इच्छानुसार कर लगाया जाता था और उन सब लाभों से वंचित कर दिया जाता था, जिनकी घर बदलने के कारण उसको आशा होती थी।...हम देखते हैं कि वे (विदेशी विजेताओं का छोटा-सा दल) किसान को हल जोतनी और बीज बोने के लिए बलपूर्वक बाध्य करते हैं, उस पर अधिक से अधिक कर लगाते हैं, यदि वह भाग जाए तो उसको वापिस घसीट कर लाते हैं. अपनी मांग को तब तक स्थगित कर देते हैं, जब तक कि उसकी फसल तैयार नहीं हो जाती और तब उससे सब कुछ छीन लेते जो कुछ भी छीना जा सकता, सिवाय उसके बैलों और बीज के, जो शायद उसको वापिस इसलिए दिए जाते हैं ताकि वह, अपने लिए नहीं, बल्कि उनके लिए फिर से अपनी खेती करने की दुःखद गाथा को दोहरा सके।''[२४३]

इसी प्रकार के शब्दों में १८३८ में मद्रास के मालगुज़ारी सदर बोर्ड ने भारत सरकार को लिखा परन्तु उसका कोई लाभ नहीं हुआ। अत्याचार के ''लगभग सर्वव्यापक'' हथकंडों द्वारा मालगुज़ारी को जितना अधिक रखा जा सकता था रखा गया। कम्पनी के शासनपत्र के नवीकरण के पहले १८५२ और १८५३ में हुई संसदीय जांच समितियों के सम्मुख ऐसी प्रथा की बुराइयों का पर्दाफाश मद्रास सरकार के अधिकारियों तक ने भी किया था। विवश होकर मद्रास सरकार को एक जांच आयोग नियुक्त करना पड़ा। जिसके सारे सदस्य अंग्रेज़ थे, जो रैयतवाड़ी प्रथा के समर्थक थे। अंग्रेज़ी शासन के लगभग १०० वर्ष बाद १८५५ में दी गई उनकी नियन्त्रित रिपोर्ट ने भी यह माना कि प्रान्त में मालगुजारी इकट्ठी करने के लिए अत्याचार किए जाते हैं; और आहत लोगों को कोई राहत नहीं मिलती। आयोग के अनुसार सरकारी अधिकारियों द्वारा अत्याचार की अत्यन्त सामान्य विधियाँ निम्नलिखित थीं। ''धूप में रखना; भोजन या अन्य स्वाभाविक आवश्यकताओं को पूरा करने से रोकना; कैद करना; किसान के पशुओं को चरागाह में जाने न देना, चपरासी द्वारा उसको पिटवाना, किट्टी अनुनडाल का प्रयोग करना यानी झुकी हुई स्थिति में आदमी को बांध देना; परस्पर फंसी अंगुलियों को भींचना, चिहटना, तमाचे लगाना, मुक्कों या कोड़ों से मारना, कान मरोड़ना, घुटनों के पीछे रोड़े रखकर आदमी को बैठने के लिए कहना, ऊपर-नीचे भगान पीठ पर निम्न जाति के आदमी को बैठाना, दो न कर देने वालों के सिरों को भिड़ाना, या उनको पिछले बालों से बांध देना, काठ में पांव देना, बालों को गधे या भैंस की पूंछ से बांधना, हड्डियों या अन्य अपमानजनक अथवा घृणित चीज़ों का हार गले में डालना; और कभी-कभार तो और अधिक कड़ा दण्ड देना।[२४]

इस आयोग को रिपोर्ट के बाद मद्रास सरकार ने १४ अग्रस्त १८५५ को एक आदेश जारी किया, जिसमें यह स्वीकार किया गया कि ''कृषि की मौजूदा स्थिति यह है कि भूमि पर निश्चय ही प्रत्यक्ष और परोक्ष भारी भार पड़ा हुआ है,'' परिणामतः पर्याप्त भूमि बंजर पड़ी है, और शांत व उद्यमी जनता को कठिनता से भोजन और रोजगार मिल पाता है।'' लगभग १०० वर्ष की अंग्रेजी लूटमार के बाद मद्रास सरकार ने ''मालगुजारी का सही तथा सुविचारित बन्दोबस्त करने की सोची, जिससे भ्रष्टाचार रिश्वतखोरी आदि की ''बुराइयां समाप्त हो सकें'' और खेती योग्य भूमि में बढ़ोतरी के कारण ''आज से अधिक लगान जनता को कम असुविधा देकर इकट्ठा किया जा सके।''[२४५]

निदेशकों ने सुझाव दिया कि उत्तर भारत की ही भांति असली उत्पादन का २/३ भाग मालगुजारी के रूप में लिया जाए। १८६४ में (इंग्लैंड के) विदेशमंत्री ने दक्षिण में उत्तर भारत की तरह ही असली उत्पादन का आधा भाग (अर्थात् ५० प्र० श०) सरकार का अंश निश्चित कर दिया। यह ५० प्र० श० का भाग केवल कागजों पर ही था। १८६१ से १८७५ तक मद्रास में हुए बन्दोबस्तों में ब्रिटिश सरकार ने प्रायः पूरा लाभ ही हड़प लिया। ''१८६१-७५ तक के मालगुजारी और अन्य आंकड़ों का विवेचन करके एक भारतीय अर्थशास्त्री लिखते हैं कि ''प्रान्त की कुल उपज और उसके मूल्य को दृष्टि में रखते हुए १८६० की अपेक्षा १८७५ में निस्संदेह लोगों पर भारी कर था।'' २०५ परिणामतः १८७७ में मद्रास में भीषण अकाल पड़ा और ३० लाख लोग मृत्यु के शिकार हो गए।

१८७६-९८ के बीच सरकार की कुल मांग ७० प्र० श० से अधिक बढ़ी। जबकि खेती का क्षेत्र केवल १४ प्र० श० ही बढ़ा।

स्पष्टतया अनेक कृषक इस अत्यन्त भारी लगान को नहीं दे पाये। परिणामतः उन्हें निकाल दिया गया और उनकी सम्पत्ति बेच दी गई। भारत के एक उच्च अंग्रेज अधिकारी को उद्धृत करने के बाद 'दी फेलियर ऑफ कर्जन के लेखक का निष्कर्ष है कि, ''केवल एक दशक से थोड़े अधिक समय (१८७९-८० से १८८९-९०) में ही समूची कृषक जनसंख्या के लगभग आठवें भाग की जमीन और घर सब बेच दिये गए। केवल उनके खेत ही नीलाम नहीं कर दिये गए, अपितु उनकी कुछ निजी वस्तुएं-हल, बैल, भोजन बनाने के बर्तन, बिस्तर इत्यादि सब कुछ, सिवाय उनके बहुत थोड़े से कपड़ों के साम्राज्यवादी कामों के लिए बेच दिए गए। यह चित्र अधूरा रहेगा जब तक कि यह ध्यान न रखा जाए कि इन ''निवारण'' के ग्यारह वर्षों के तुरन्त पहले १८७७-७८ में एक भीषण दुर्भिक्ष पड़ा था, जिसके कारण मद्रास के ३० लाख लोग भूख से मर गए थे। [२४७]

समय-समय पर भारत सरकार के कुछ अधिकारियों ने मालगुजारी को यथोचित रखने का सुझाव दिया, परन्तु उनके सुझाव तो नर-भक्षियों को यह कहने के समान थे कि वे मनुष्यों को न मारें और उनका खून न पियें। उदाहरणार्थ, १८८०-८४ तक भारत के वायसराय लॉर्ड रिपन ने सुझाव दिया कि मालगुजारी को मूल्यवृद्धि के अनुसार ही बढ़ाया जाये। परन्तु इस मन्द सुझाव को भी विदेश मंत्री ने १८८५ में अस्वीकार कर दिया, यद्यपि इस सुझाव में यह नहीं कहा गया था कि प्रत्येक बन्दोबस्त के समय लगान न बढ़ाया जाए।

महालवाड़ी पद्धति

अतिशय कर की यह दारुण गाथा उत्तर भारत की भी है। अल्पकालिक मियादी बन्दोबस्त यहां भी किये गए, जिनके परिणाम बड़े ही घातक निकले।

१८२२ के नियमों के अनुसार उन्हें महालवाड़ी बन्दोबस्त (महाल का अर्थ जागीर है) कहा गया। हर जागीर कर अदा करने के लिए संयुक्त रूप से जिम्मेदार थी। यदि ज़मींदार के अधीन जागीर होती तो सरकार जागीरों के कुल किरायों के ८३ प्र० श० करों से अधिक मांग करती थी। यदि जागीर पर कृषकों की सांझी पट्टेदारी होती, तो कर ९५ प्र० श० तक भी बढ़ा दिया जाता था। कलेक्टरों को पर्याप्त अधिकार दिए गए। अपनी कठोरता के कारण यह प्रणाली अंतत ११ वर्ष बाद समाप्त कर दी गई और १८३३ में नया नियम बनाया गया।

१८३३ के नियमानुसार सरकारी मांग को घटाकर किराये का ६६ प्रतिशत कर दिया गया और बन्दोबस्त ३० वर्ष के लिए किया गया। अंग्रेज़ी शासन के पहले ३० वर्षों में किये गए अतिशय और अत्याचारी बन्दोबस्तों से यह निश्चित ही बेहतर था। परन्तु फिर भी सरकारी मांग कड़ी थी और किराया प्रायः अनुमान के आधार पर ही निर्धारित किया जाता था।

आधी शताब्दी की सतत गलतियों और अतिशय करो के बाद अन्ततः १८५५ में सरकारी मांग घटाकर असली उत्पादन की ५० प्र.श. कर दी गई,जो ब्रिटिश शासन के अन्त तक कायम रही। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ५० प्र.श. का यह नियम १८६४ में दक्षिण भारत में लागू किया गया। इस प्रकार स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों को छोड़कर सारे भारत में कागजों पर असली उत्पादन का ५० प्र.श. सरकार का कर निश्चित हुआ।

परन्तु व्यावहारिक तौर से इस ५० प्र.श.के नियम का, जो स्वयं में अनुचित है और जो शायद किसी भी सभ्य सरकार द्वारा संसार में कहीं भी लागू नहीं किया गया का उल्लंघन किया गया। इस बात की

पुष्टि भारत के लिए विदेश उपमन्त्री सर लुइस मोलेट द्वारा १८७५ में की गई।"...वास्तव में असली उत्पादन का ५० प्र.श.लेने की बात तो केवल कागजों मात्र में ही है यह तो केवल एक कल्पना मात्र है जिसका प्रशासन के वास्तविक तत्थों से बहुत कम वास्ता है। वास्तविकता तो यह है कि कर, सारे के सारे किराये को और बहुत सारी स्थितियों में तो लाभ को भी, हड़प कर लेता है।"[२४८]

इसके अलावा, व्यक्तिगत तौर पर लोगों द्वारा किए गए सुधारों के लाभों को भी सरकार वास्तविकता में हड़प कर लेती थी; यद्यपि सरकार ने, पुनः कागजों पर ही, यह नियम बना रखा था कि सुधारों पर कोई कर नहीं लगेगा।

इसके अतिरिक्त, सरकार बन्दोबस्त के समय कृषकों की राय बिल्कुल भी नहीं लेती थी। इन बन्दोबस्तों को ऐसे गोपनीय रखा जाता था मानो ये किसी प्रकार के राज्य के रहस्य हों, कृषक किसी स्वतन्त्र सत्ताधारी को अपील नहीं कर सकते थे। कृषकों को सरकार की मांगे पूरी करनी पड़ती थीं, वरना उन्हें सपरिवार मौत के लिए तैयार रहना पड़ता था। मानो केवल इतना ही पर्याप्त नहीं था, भूमि पर अंग्रेजों ने और भी कई कर लगाए जिनको 'उपकर' कहा जाता था। यह उपकर स्थायी बन्दोबस्त के क्षेत्रों में भी लगाये पर, जो उन लिखित वचनों के विरुद्ध था और बाद में जो कानून में परिणत भी कर दिये गये, किसी भूमि पर कर 'सदा के लिए निश्चित कर दिए गए हैं', १८७५ तक पुलिस, पोस्ट आफिस, शिक्षा आदि सभी स्थानीय आवश्यकताओं का खर्चा मालगुजारी से ही निकाला जाता था। परन्तु इसके बाद इनकी पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न कर लगाये जाने लगे, जो सरकार की मांग के १० से १६ प्र.श. तक हो जाते थे। ब्रिटिश लेबर पार्टी की पूर्ववर्ती

स्वतन्त्र लेबर पार्टी के नेता तथा ब्रिटिश संसद सदस्य जे. कियर हार्डी ने १९०७ में लिखा, ''संभवतः फसल का ७५ प्र.श. से कम करों में नहीं जाता। बहुतों को तो यह अबोध्य लगेगा। इंग्लैंड में आय पर ५ प्र.श. भूमि की कुल फसल पर नहीं बल्कि लाभ पर लगाया जाता है। तब फिर उस देश की क्या स्थिति होगी जिसमें लाभ पर ५ प्र.श. नहीं बल्कि फसल पर ७५ प्र.श. कर है?...इसी कारण से भारतीयों को स्थायी, निराशाजनक और दलित गरीबी में पिसना पड़ता है।''२४९

इतनी अधिक मालगुजारी ही, जो प्रत्येक बन्दोबस्त के साथ बढ़ती रहे, किसी भी देश की कृषि और कृषकों का विनाश करने में पर्याप्त है। भूमि और मालगुजारी के प्रति अपनाये गये ढंगों पर टिप्पणी करते हुए सर हेनरी कॉटन ने १९०७ में लिखा, ''मालगुजारी लगाने और इकट्ठा करने के हमारे कठोर व नये-नये ढंगों ने कृषकों को गरीबी और अधमता के निम्नतम स्तर तक पहुँचा दिया है। साथ ही हमारे बन्दोबस्त-न्यायालयों की कार्यप्रणाली के तरीके ने भी उनपर इतना भार लाद दिया है जितना कि उन पर कभी पहले नहीं था। अकाल पहले की अपेक्षा अब अधिक पड़ने लगे हैं और अधिक तीव्र हैं। यह भाग्य की विडम्बना है कि हमारा संविदा-संग्रह उन पीड़ितों की सहायता करने के तरीकों से भरा पड़ा है जिनको हमारी शासकीय पद्धति ने दरिद्र, अति पीड़ित बना दिया है।''[२५०]

दुर्भिक्ष के दिनों में भी सरकार ने मालगुजारी बढ़ाई। एक रिटायर हुए आई.सी.एस.अधिकारी तथा ब्रिटिश संसद सदस्य ने १९०८ में लिखा- ''पन्द्रह वर्ष पूर्व पंजाब सरकार के वित्त आयुक्त श्री एस.एस.थौरबर्न ने घर-घर सर्वेक्षण करने के उपरान्त घोषणा की, कि बहुत सारे क्षेत्रों में किसानों की 'छुटकारे से पार बर्बादी हो चुकी है;'

उसके अनुसार इसका प्रमुख कारण ''मालगुजारी अदा करने के लिए महाजनों से ऋण लेना था'', ...पंजाब में पिछले दस वर्षों में दो बार सामान्य अकाल पड़ चुके हैं और गत ५ वर्षों में पंजाब में प्लेग का प्रकोप रहा है।... गत वर्ष एक ही सप्ताह में ५२,००० लोग मर गए। केवल मुसलमानों के ही ५ लाख लोग मर गए हैं। ऐसी भयंकर दुर्घटनाओं के बावजूद भी मालगुजारी में छूट देना तो दरकिनार, उसको १८९१ से १९०६ तक के १५ वर्षों में ३० प्र.श. बढ़ा दिया गया है।''[२५१]

भारत के भिन्न-भिन्न भागों में मालगुजारी में वृद्धि की ऐसी ही गाथाएं लेखक ने बताई है। [२५२] १९०९ में ए.जे. विल्सन ने कहा, ''अकेला हमारा मालगुजारी का बन्दोबस्त ही उन (भारतीयों) को दासता और दयनीय निर्भरता की स्थिति में ला सकता है और लाता है, भले ही हम चाहें या न चाहें।''[२५३] वायसराय परिषद के भूतपूर्व सदस्य सर विलियम हन्टर ने १८८३ में कहा, ''सरकारी कर-निर्धारण के कारण कृषकों के पास अपने और अपने परिवार का भरण-पोषण करने के लिए एक वर्ष तक का अन्न भी नहीं बचता।[२५४] भारी करनिर्धारण के कारण ''वह (भारतीय कृषक) मिट्टी में मिला दिया जाता है ओर उसका सब कुछ चूर-चूर कर दिया जाता है सिवाय उसकी हड्डियों के सार के।''[२५५]

बहुत ही चरम स्थिति में, मालगुजारी में किसी प्रकार का स्थगन या छूट (जो अत्यन्त कम थी) दी जाती थी। परन्तु यह तो अधिक से अधिक केवल एक लघुकरण था। यहाँ तक कि १९३० की मंदी के समय भी भारतीय किसानों को कोई राहत नहीं दी गई यद्यपि संसार के अन्य कृषकों के समान उन्हें भी बहुत कष्टों का सामना करना पड़ा था। १९२८-२९ से १९३३-३४ तक फसलों के मूल्य में ५५ प्र.श. कमी

आई, परन्तु कर, किराया आदि के रूप में किसानों द्वारा चुकाई जाने वाली मुद्रा की राशि में कोई परिवर्तन नहीं आया।[२५६] भारत का गरीब कृषक सरकार से नगण्य सहायता भी न ले सका। कोई आश्चर्य की बात नहीं कि इस दौरान में कृषकों के ऋण बहुत बढ़ गए। यह अनुमान लगाया जाता है कि १९३१और १९३७ के बीच कृषि–ऋण ६७५,000,000 पौंड से बढ़कर १३५,000,0000 पौंड हो गया[२५७] अर्थात् १०० प्र.श. बढ़ गया।

❑❑❑

सातवां अध्याय

कृषि और कृषक (क्रमशः)

महाजन

सरकार द्वारा या सरकार के प्रिय बालक जमींदार द्वारा भूमि पर मुद्रा के रूप में लगाये गए सदा बढ़ते हुए कुटिल और दुखदायी करों ने अनेक विकट समस्याएं खड़ी कर दीं। सरकार आग्रह करती थी कि उसको नियमित मुद्रा के रूप में कर राशि मिलती रहे जो उपज का या उसके मूल्यों का ध्यान किए बिना अग्रिम ही निश्चित कर दी जाती थी, अन्यथा किसान की सम्पत्ति, भूमि, घरेलू वस्तुएं आदि नीलाम कर दी जाती थीं। फसल खराब होने, सूखा पड़ने या उपज के भाव गिरने की स्थिति में गरीब किसानों के लिए कर चुकाने के लिए एकमात्र रास्ता, महाजन से पैसे उधार लेना ही रह जाता था क्योंकि लगभग और कोई साधन पैसा उधार लेने का किसानों के पास नहीं था। देर-सबेर अधिकांश किसानों को महाजन के पास जाने के लिए सरकार ने विवश कर दिया। भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए महाजन एक और अभिशाप बन गया और भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए वह एक और आधारस्तम्भ बन गया।

ब्रिटिश साम्राज्यवादी तर्क देते हैं कि निर्धन कृषक इसलिए कर्ज लेते थे क्योंकि वे अपने बच्चों के विवाहों पर फिजूलखर्ची करते थे जैसे कि मानो कृषकों के विवाह प्रतिदिन होते हों और उनको जीवन पर्यन्त किसी भी प्रकार के मनोरंजन या सुख का कोई भी अधिकार नहीं। दक्षिण के गरीब कृषकों ने जब महाजनों और अन्य अत्याचारियों के विरुद्ध बेहद बेबसी से विद्रोह किया तब सरकार ने 'दक्षिणी दंगा आयोग' नियुक्त किया, जिसने अपनी रिपोर्ट में कहा: ''आयोग की जाँच से यह स्पष्ट है कि इस बात को अनुचित प्रधानता दी गई है कि

विवाह और अन्य उत्सवों पर कृषकों के साधनों के मुकाबले में निस्संदेह अधिक हैं; परन्तु ऐसे खर्चे कभी-कभार ही आते हैं और शायद इस प्रकार से किसी भी कृषक द्वारा खर्च की गई सारी राशि कुछ वर्षों को मिलाकर औसतन अधिक नहीं है जबकि सामाजिक और घरेलू सुखों पर उसी के स्तर के किसी और व्यक्ति द्वारा इतनी राशि खर्च करना न्यायसंगत समझा जायेगा।'' और वह राशि कितनी है जो गरीब किसान अपने लड़के के विवाह पर खर्च करता है? आयुक्तों के अनुसार यह ५० से ७५ रुपए तक है।[२४८]

पंजाब प्रान्त के कर आयुक्त एस.एस.थॉरबर्न ने १८९१ में, ५३५ गाँवों और तीन लाख कृषिनिर्भर जनसंख्या वाले चार इलाकों या मण्डलों में घर-घर जाकर सर्वेक्षण के उपरान्त कृषकों द्वारा महाजनों से- जिनको ''हमारी व्यवस्था गाँवों को स्वामी बना रही है''- ऋण लेने का मुख्य कारण 'मालगुजारी अदा करना' ठहराया। थॉरबर्न के अनुसार ऋण लेने का दूसरा मुख्य कारण बीज खरीदने के लिए धन की आवश्यकता थी। यह सब मालगुजारी का परिणाम था जिसके कारण किसान के पास अगली फसल बोने लिए बीज भी नहीं बच पाते थे और न ही किसी प्रकार की पूंजी शेष बच पाती थी। थॉरबर्न ने यह भी स्थापित किया कि ''१२६ गाँवों में आधे से अधिक पुराने कृषकों की छुटकारे से पार बरबादी अभी तक हो चुकी है और उनके खेत महाजनों की सम्पत्ति बन चुके हैं।''[२५९]

१९०१ में भारतीय अकाल आयोग ने भी इस मत की पुष्टि की कि अंग्रेजी मालगुजारी प्रथा भारतीय कृषकों को ऋण लेने के लिए मुख्यता विवश करती है। आयोग ने लिखा कि ''किसान ऋण के गढ़ में धंस गए हैं, उनकी सम्पत्ति उनके हाथों से छीन ली गई है। यह अवश्य मानना पड़ेगा कि मालगुजारी प्रथा ऐसी स्थिति को लाने में

सहायक हुई है जिसको कठोरता ने कृषकों को ऋण लेने पर मजबूर कर दिया है, और उनके पास मूल्यवान वस्तु (भूमि) ने उनको ऋण लेना आसान कर दिया है।''[२५९]

सर हेनरी कॉटन[२६१] तथा दक्षिण कृषक सहायता अधिनियम[२६२] की रिपोर्ट ने भी यह पुष्टि की है कि मालगुजारी की कठोर मांगें निर्धन कृषक को महाजन के चंगुल में फंसाने के लिए पूर्णतः उत्तरदायी थीं।

ब्रिटिश शासन से पहले भी भारतीय कृषक महाजनों से ऋण लेते थे। परन्तु तब कृषक अपनी जमानत पर ही उधार ले सकते थे, भूमि की जमानत पर नहीं। अतः ऋण देना एक बहुत बड़ा जोखिम था, इसीलिए अंग्रेजों के काल की अपेक्षा ऋण की मात्रा भी तब बहुत कम थी। अंग्रेजों से पहले महाजन किसानों का केवल एक दीन-हीन सेवक था और ग्रामीण अर्थव्यवस्था में उसका स्थान बहुत नीचा था, परन्तु ब्रिटिश काल में वह किसान का स्वामी बन गया तथा जमींदार के साथ-साथ वह भी परम उच्च पद पर आसीन हो गया। जमींदार और महाजन दोनों ही परजीवी-सबसे बड़े परजीवी अंग्रेजों द्वारा बनाये, पाले-पोसे एवं पनपाए गए।

गाँव में महाजन एक छोटा-सा व्यापारी भी होता था। महाजन को ऋण और ब्याज चुकाने, जमींदार को किराया देने और सरकार को कर देने के लिए किसान को अपने श्रम से उपजाई फसल काटने के समय अथवा कभी-कभार तो पकने से पूर्व ही खेत में खड़ी की खड़ी महाजन के हाथों बेच देना पड़ती थी। कटाई के समय फसल बेचने का अर्थ था उपज को बहुत सस्ता बेचना, और कुछ ही मास बाद उसी महाजन से बहुधा किसान को बीज बोने तक के लिए भी महंगे दामों पर अन्न खरीदना पड़ता था। ऐसा करने के लिए उसको महाजन से उधार लेना पड़ता था। चूंकि ऋण का लगभग एकमात्र स्रोत वही था

इसलिए स्वाभाविकता वह ऋण बेहद ब्याज पर देता था जो किसान के लिए "आर्थिक मृत्युदंड के समान था।"[२६३] इस प्रकार से कृषक ऋण और अदायगी के चक्रव्यूह में ही घूमता रहता था। इस सब गिद्धों और पिशाचों को देने के लिए उसे अपनी उपज बेचनी पड़ती थी और महाजन से उधार भी लेना पड़ता था ताकि वह अपने अस्तित्व को बनाये रखने भर के लिए जीवित रह सकने और इन गिद्धों और पिशाचों को दे सकने के लिए उपज पैदा कर सकें। अन्ततः यह चक्कर तभी टूटता था जब विवश होकर किसान अपनी भूमि बेच देता या कर्ज न चुका पाने के दोष में महाजन उसकी जमीन को हड़प लेता था। इस प्रकार इस कठोर अतिशय मालगुजारी के कारण अन्ततः भूमि किसानों के हाथ से छिन जाती थी और भूमि का स्वामी कृषक केवल मजदूर बनकर रह जाता था।

एक और प्रकार से भी कृषकों को शोषण होता था। जब कभी भी कोई सरकारी कर्मचारी गाँव में जाता, तब ग्रामीणों को उसके स्वागत–सत्कार के लिए दावत देनी पड़ती थी। सरकार के किसी भी कर्मचारी को, विशेषतया पुलिस को, न केवल मुफ्त भोजन खिलाया जाता था बल्कि वे किसान की अनाज, दूध जैसी उत्पादित चीजों को भी मुफ्त में उड़ा ले जाते थें। यह बर्बरतापूर्ण लूट भारत में अंग्रेजी शासन का एक नियमित अंग था। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि पुलिस को गाँवों की "सबसे बुरी बला और जंगली पशुओं से भी घटिया"[२६४] कहा गया है। 'लीव्ज फ्राम दी जंगल' के लेखक मिस्टर एल्विन ने ग्रामीणों को फलों के वृक्ष लगाने के लिए प्रोत्साहित करने का प्रयत्न किया। परन्तु ग्रामीणों ने कहा, "इसका क्या लाभ? जब फल पकेंगे तो पुलिस हमसे छीनकर ले जायेगी।" एल्विन वर्णन करता है कि, किस प्रकार बैगाओं के एक सम्पूर्ण कुल को अपना टोकरी बनाने को

धन्धा ही छोड़ना पड़ा, क्योंकि ब्रिकी के लिए बाजार ले जाते समय उनकी टोकरियों में से काफी सारी टोकरियां सरकारी कर्मचारियों द्वारा छीन ली जाती थीं जिससे यह सहायक धन्धा लाभप्रद नहीं रहा। आर.रेनॉल्ड लिखते हैं: ''भाग्यवादी निराश का इससे बढ़ कर कोई और उदाहरण नहीं दिया जा सकता जिसने अब प्राचीन ग्राम्य समाज की स्वतंत्र मनोवृत्ति का स्थाल ले लिया है।''[२६५]

अनिवार्य व्यापारीकरण और भूमिहीन किसान

किसी भी देश के लिए कृषि का व्यापारीकरण वांछनीय है, और अंग्रेजों के पूर्व भारत में यह प्रक्रिया आरम्भ हो गई थी। फिर भी अंग्रेजों के अन्तर्गत इसे एक नया आवेग मिला, परन्तु यह आवेग अस्वाभाविक और जबरन था। भारतीयों के लिए यह घातक सिद्ध हुआ। कृषि के इस अनिवार्य व्यापारीकरण को, जिसमें कृषक को अपनी वस्तुएं किसी व्यापारी या महाजन को (अधिकांशतः एक ही व्यक्ति एक साथ व्यापारी और महाजन दोनों होता था) बेचनी पड़ती थी। सरकार ने भी प्रोत्साहन दिया क्योंकि ऐसा करना अंग्रेजों के हित में था। इस अनिवार्य व्यापारीकरण के विषय में एक अमेरिकी लेखक का मत है: ''सरकार और जमींदारों द्वारा की गई बृहद् मांग को पूरा करने के लिए कृषकों की लगातार धन की आवश्यकता के कारण व्यापारिक कृषि का अंशतः विकास हुआ। दूसरा कारण यह था कि इस प्रकार के विकास का ब्रिटिश प्रशासन ने स्वागत किया...ब्रिटिश उद्यमी कच्चे माल के लिए शोर मचा रहे थे और अपनी तैयारशुदा वस्तुओं के लिए अच्छे बाजारों की तलाश में थे।''[२६६]

सरकार की 'बृहद्' मांग' को पूरा करने के लिए और कृषि उत्पादनों–अन्न और कच्चे माल–की अंग्रेजों की अंतर्पणीय प्यास को शान्त करने के लिए भारत को अपनी सम्पदा अंग्रेज सरकार के बच्चों–

महाजन और रेलवे-के माध्यम से इंग्लैंड भेजनी पड़ी; भरकम निष्कासन (जिसका वर्णन बाद में करेंगे) को पूरा करने के लिए भारत को मजबूरन इंग्लैंड को निर्यात करना पड़ता था; उस समय भी जबकि दुर्भिक्ष के कारण भारतीय लाखों की संख्या में मर रहे थे।

ए.जे. विलसन यह कहने के बाद कि भारतीय जनता सूदखोरों के शिकंजे में बुरी तरह से पिस रही है, क्योंकि हमारी 'मालगुजारी व्यवस्था उसे ऐसा करने बाध्य करती है', इन अनिवार्य निर्यातों के बारे में लिखता है, ''सच्चाई यह है कि भारत में सर्वोच्च सरकार द्वारा निर्धारित भूमि-व्यवस्था सारी जनसंख्या को विनाश की ओर ले जा रही है, और हमारे ये विस्तृत और महंगे सार्वजनिक कार्य, इस विनाश की आग को और भी भड़का रहे हैं। सरकार अथवा सूदखोरों की मांगों को पूरा करने के लिए अनेक कठिनाइयों के उपरान्त उगाई गई फसल को, पकते ही तुरन्त बाजार में ले जाना पड़ता है जहाँ अधिकतर महाजन की स्वेच्छित मूल्य देकर फसल खरीदता है और उसे यूरोपीय व्यापारीं अथवा उसके प्रतिनिधि को सस्ते दामों में बेच देता है। जब ऐसा नहीं होता तब अंग्रेज पूंजीपति स्वयं कृषकों, फसलों और प्रत्येक वस्तु को नियन्त्रित करता है; वास्तव में वह स्वयं ही सूदखोर बन जाता है। इस प्रकार बेची गई फसल रेल द्वारा शीघ्रता से विदेश भेज दी जाती है, और जब अन्न की कमी आती है, तब लोगों के पास न एकत्रित किया गया अन्न होता है और न ही खरीदने के लिए पैसा।...बदलती हुई राशि का धन के रूप में कड़ा लगान और जिसकी, बंगाल को छोड़कर सारे भारत में प्रत्येक तीस साल या उससे पहले बढ़ने की सम्भावना है, साम्राज्य के विदेशी व्यापार के लिए तो सम्भवतया एक शानदार प्रोत्साहन है परन्तु देशी लोगों के लिए तो मौत है।''[२६७]

ये अनिवार्य निर्यात तब भी होते रहे जब लाखों लोग अन्नाभाव में मर रहे थे।

''यह भारत में एक सामान्य बात है कि अन्न का निर्यात तब भी होता रहता है जबकि बहुत सारे लोग भूख से मर रहे होते हैं। रिचर्ड टैम्पल हमें बताता है कि १८७७ के अकाल के सारे समय में भी, जिसमें ४० लाख लोग भूख से मर गए, कलकत्ता बन्दरगाह से अन्न का निर्यात एक क्षण तक के लिए भी नहीं रुका''[२६८]

अन्न के निर्यात की इस सारी प्रक्रिया में, और सरकार तथा जमींदार को लगान तथा किराया देने के लिए किसान की फसल को धन में परिवर्तित करने में महाजन सरकार का अमूल्य सहायक होता था। महाजन का व्यापार बिना किसी जोखिम के पर्याप्त लाभकारी था। भुगतान न करने की स्थिति में महाजन किसान की भूमि व सम्पत्ति को हड़पने के लिए ब्रिटिश कानूनों का, न्यायालयों को, और पुलिस का प्रयोग कर सकता था। परिणामतः भूस्वामी कृषक अपनी भूमि महाजनों को खो रहे थे, और महाजन उसी जमीन को पट्टेदार को किराए पर दे देते थे; अतः महाजन ही भूस्वामी भी बन रहे थे। इस प्रकार रैयतवाड़ी क्षेत्रों में भी जमींदार बनाये जा रहे थे। अन्य क्षेत्रों में तो ब्रिटिश कानून द्वारा जमींदारापन पहले से ही स्थापित कर दिया गया था। फलस्वरूप समूचे देश में भूमिहीन किसानों के परिश्रम पर फलने-फूलने वाली परजीवी श्रेणी अस्तित्व में आ गई।

सरकारी जगगणना के अनुसार भी भूमिहीन कृषकों की संख्या अति तीव्र गति से बढ़ी। जीने योग्य मजदूरी भी इन श्रमिकों को कठिनता से दी जाती थी। १८४२ के जनगणना आयुक्त सर थामस मुनरो ने कहा था, भारत में कोई भूमिहीन किसान नहीं है। १८५२ में जार्ज कैम्बल ने कहा था, भारत में आम तौर पर ''कृषि किराये के

मजदूरों द्वारा नहीं कराई जाती।''[२६९] १८७१ की पहली भारतीय जनगणना में कुल कृषक जनसंख्या का १८ प्रतिशत भाग कृषिजीवी श्रमिकों को था। यह आंकड़े बढ़ते ही गए और ब्रिटिश शासन के १७४ वर्ष बाद, १९३१ की जनगणना के समय (१९४१ की अन्तिम ब्रिटिश जनगणना में व्यावसायिक वर्गीकरण की सारणी तैयार नहीं की गई) भूमिहीन श्रमिकों की संख्या, जिनको भूमि में किसी प्रकार का कोई अधिकार नहीं था, लगभग ७ करोड़ ९० लाख या कुल कृषक जनसंख्या का ७० प्रतिशत हो गई।''[२७०] इनमें से एक 'बहुत बड़ा' वर्ग अधिक से अधिक 'अर्द्धमुक्त' कहा जायेगा। १९३१ की जनगणना के बाद मंदी आई, और भारत भी इस तीव्र बवंडर की लपेट में आने से नहीं बचा। फलस्वरूप कृषि उत्पादों की कीमतों में ५५ प्रतिशत गिरावट आई और कुछ ही वर्षों में कृषि ऋण में १००% की वृद्धि हो गई परन्तु सरकार का लगान वैसा ही रहा। ऐसी परिस्थितियों में किसान की जमीन का, महाजन व भूस्वामी या व्यापारी के पास खिसक जाना बहुत स्वाभाविक था, जिससे भूमिहीन किसानों की संख्या में वृद्धि हुई। १९३९ में दूसरा विश्वयुद्ध हुआ, जिससे मूल्य बहुत बढ़ गए तथा पुनः भूमिहीन किसानों की संख्या में बढ़ोतरी हुई। दूसरे शब्दों में अंग्रेज़ों के १९४७ में भारत छोड़ने तक भूमिहीन किसानों की संख्या निश्चित ही कुल कृषक जनसंख्या के ७० प्रतिशत से कहीं अधिक हो गई होगी।

१८४२ में और उससे पहले भूमिहीन कृषक नहीं थे जिसका अर्थ था कि सभी किसान भूस्वामी होने के नाते गौरव और सम्मान के साथ रह सकते थे और उन्हें अपनी निजी सम्पदा बढ़ाने का प्रोत्साहन रहता था। ब्रिटिश शासन के लगभग २०० वर्ष बाद कम से कम ७ करोड़ ९० लाख लोग कृषक भूमिहीन हो चुके थे। लगभग २०० वर्षों में यह एक घृणित परिवर्तन था जबकि भारत की अधिकांश जनसंख्या

कृषिजीवी बन चुकी थी, वे भूमि के मालिक नहीं रहे अतः अर्धदासों की तरह काम करते थे। इसी कालखंड में संसार के प्रत्येक स्वतंत्र देश के ठीक इसके विपरीत हुआ, जबकि कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायों में अधिक से अधिक लोगों को कारोबार मिल रहा था; और जो कृषि-क्षेत्र में बचे उनके जोत-क्षेत्र और उत्पादन दोनों ही बढ़े। ''हमे देशीय शासकों से ऐसा भूमिधर-वर्ग मिला, जो उन खेतों के स्वामी होते थे जिन पर वह खेती करते थे, और अब हम संसार के सर्वाधिक जड़ और अकाल से पीड़ित देश पर शासन करते हैं।''[२७२]

अनुपस्थित महाजनों और जमींदारों के पास भूमि को खिसकने से रोकने के लिए और अपनी मांग को कम किए बना, विशाल ऋणों को कम करने के लिए, सरकार ने अधमने भाव से कुछ मामूली-से कानून बहुधा किसानों के विद्रोह करने के बाद ही बनाये। परन्तु इन कानूनों में अनेक बचाव के रास्ते होने के कारण महाजन इनका उल्लंघन बड़ी सरलता से कर सकता था। महाजन अच्छे-अच्छे वकीलों को पैसे दे सकते थे, और दूसरी ओर पट्टेदार मुकदमेबाजी के भारी खर्चों को नहीं सह सकते थे। सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न तो मांग और पूर्ति का था। किसानों को जीने और सरकार को कर देने के लिए खेती करनी पड़ती थी जिसके लिए उसे ऋण लेना ही पड़ता था। ऐसा करने के लिए उसे महाजन के पास ही जाना पड़ता था क्योंकि वस्तुतः वही एकमात्र उसकी मांग को पूरा करने का स्रोत था। ऐसी परिस्थितियों में कड़े से कड़ा कानून भी बढ़ती हुई ऋणग्रस्तता, भूमि का महाजन को हस्तांतरण और भूमिहीन किसानों को अनोखी बढ़ोतरी को नहीं रोक सकता था।

केवल बीसवीं शताब्दी में ही सरकार ने सहकारी ऋण समितियों और सहकारी बैंकों की स्थापना के प्रयास किए। परन्तु वही

लोग जिन्हें ऋण की सर्वाधिक आवश्यकता थी, इन समितियों के सदस्य नहीं बन सकते थे; क्योंकि उनके पास सदस्यता की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए पर्याप्त साधन नहीं थे। इसके अलावा ये समितियां और बैंक समुद्र में एक बूंद के समान थे। अतः कृषक को साहूकारों पर ही ऋण के लिए निर्भर रहना पड़ता था।

इन सभी कृषि समस्याओं के मूल कारण थे भारी मालगुजारी एवं भू-बन्दोबस्त। कराधान के मानवीय सिद्धांतों के अनुसार लगान लगाने को भारत की ब्रिटिश सरकार तैयार नहीं थी क्योंकि उसे विश्वभर में सबसे महंगी नागरिक एवं सैन्य सेवाओं पर खर्च करना होता था और ऐसा करने के लिए लगान ही लगभग एकमात्र साधन था। न ही सरकार भू-बन्दोबस्त बदलने के लिए तैयार थी, क्योंकि जमींदार और महाजन भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के आधारस्तम्भ थे। यहाँ तक कि उनकी विशाल आमदनियों पर भी कर नहीं लगाया जाता था।[२७३]

१७० वर्ष के शोषण के बाद अंग्रेजों के भारत छोड़ने से केवल २० वर्ष पूर्व १९२७ में सरकार ने ''ब्रिटिश भारत की कृषि और ग्राम अर्थव्यवस्था'' की समस्याओं को जांचने के लिए 'रॉयल कृषि आयोग' नियुक्त करने का निश्चय लिया। परन्तु कृषि की मूलभूत समस्या भू-बन्दोबस्त की जाँच नहीं की गई। सरकार के ऐसा कदम उठाने के मूल कारण विश्वयुद्ध, विद्रोह और जनता के शांतिपूर्ण आंदोलन थे।

यद्यपि जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग कृषि पर निर्भर था और सरकार की आय मुख्यतः इस पर आधारित थी, फिर भी २०वीं शताब्दी से पूर्व न कोई कृषि विभाग था और न ही व्यापार या उद्योग विभाग, जो यह स्पष्टता प्रकट करता है कि भारत में ब्रिटिश सरकार

पुलिस और तानाशाही के अतिरिक्त कुछ भी नहीं थी। इम्पीरियल कृषि अनुसंधान संस्थान १९०३ में, अंग्रेजों की कृपा से नहीं, बल्कि एक अमेरिकी के दान से स्थापित हुआ जिसने यह धन भारतीय कृषि के विकास के लिए दिया।[२७४] ब्रिटिश शासन की समाप्ति तक इन संस्थानों या विभागों को महत्व बिलकुल क्षुद्र और हीन था। यह बात आश्चर्यजनक तो नहीं पर दुखदायी अवश्य है कि १९३५-३६ (शांतिकाल) के प्रान्तीय तथा केन्द्रीय बजटों में कृषि के विकास के लिए कुल खर्चे का केवल डेढ़ प्रतिशत भाग रखा गया,[२७५] जिस पर ८० प्रतिशत जनसंख्या प्रत्यक्ष निर्भर थी। एक अमेरिकी लेखक १९३८ में लिखता है, कि आई.सी.एस. के लोगों (कुल ११०७) पर कुल बजट का लगभग १.२५ प्रतिशत भाग प्रतिवर्ष व्यय किया जाता था।[२७६] जिसमें 'विश्व के सबसे शक्तिशाली पुरुष'[२७७] - भारत के वायसराय, ब्रिटेन के राज्यमंत्री, (विदेश मंत्री) और सेना अधिकारियों के लाजवाब वेतन शामिल नहीं थे।

१९३१ में भारत आये एक अमेरिकी लेखक व विचारक ने इन ८० प्रतिशत लोगों की जीवन स्थितियों पर प्रकाश डाला है। ''किसान की कमाई का लगभग आधा भाग तो उसके विदेशी स्वामियों को, क्रूरतापूर्ण भारी करों के रूप में चले जाते हैं। यदि यह समय पर न दिये जायें, या धन में न दिये जाएं, तो उसकी लघु सम्पत्ति सरकार द्वारा जब्त कर ली जाती है।... एक अंग्रेज हमें बताता है कि ये १० करोड़ किसान प्रतिदिन दो सैंट पर गुजारा करते हैं। उनकी टांगों को देखकर हमें यह विश्वास हो जाता है। इनमें से कोई भी ऐसा पुरुष नहीं जो कम वजन का न हो। पोषण की कमी के कारण उनमें से आधे स्पष्टतया दुर्बल दिखते हैं, उनके टखनों से घुटनों तक काली टांगों पर हाथ फेरने से यह पता लग जाता है। सभी व्यक्ति, यहाँ तक कि उनके अपने देशवासी भी, उनका शोषण करते हैं। अंग्रेज उन पर इतना कर

लगाते हैं जितना कि वह लगा सकते हैं, सैनिक और असैनिक के लिए (जिनमें सारे प्रलोभी अंग्रेजों के हाथ में है) लाजवाब सुविधाएं जुटाते हैं, और अपने वेतनों का अधिकांश भाग इंग्लैंड में खर्च करते हैं। हिन्दू महाजन उनका खून चूसते हैं, क्योंकि जब कर देने का समय आता है तब किसान के पास नगदी होनी चाहिए और ऋणदाता का जोखिम काफी है।[२७८]

सिंचाई

ब्रिटिश-काल से पूर्व सभी सरकारों ने इस तथ्य को पूर्ण मान्यता दी थी कि 'भारत में सिंचाई ही सब कुछ है' और उन्होंने कुओं, नहरों, तालाबों, झीलों, बांधों द्वारा सिंचाई का महत्वपूर्ण कार्य सारे भारत में बहुत पुरातन काल से लेकर अंग्रेजी शासन तक किया।

अंग्रेजों ने जब शासन संभाला तब सिंचाई की लगभग पूरी तरह उपेक्षा कर दी गई। नहरें, तालाब ओर सिंचाई के अन्य साधन अप्रयोग और देखरेख के अभाव से उजड़ने लगे। ब्रिटिश शासन के ८० वर्ष बाद १८३८ में जी.थॉमसन ने लिखा, ''हिन्दू या मुसलिम शासनों में बनी सड़कें, तालाब और नहरें, जो राष्ट्र व जनता के कल्याण के लिए बनी थीं, आज जीर्णशीर्ण हो खंडहर बन गई हैं और अब सिंचाई साधनों के अभाव के कारण अकाल पड़ रहे हैं।[२७९]

१९०२ में डब्ल्यू.एस.लिली ने लिखा : ''वास्तव में यह कहा गया है और इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि उन्होंने भारतीय (ब्रिटिश-काल से पूर्व के शासकों)ने जल संचयन के लिए जो कार्य किए वे उनसे ''विशालता में श्रेष्ठ हैं जो प्रथावश संसार के आश्चर्य माने जाते हैं;''...लेकिन आज यह एक स्पष्ट तथ्य है कि सिंचाई के बहुत से पुराने साधनों को नष्ट होने दिया गया है।''[२८०]

कम्पनी ने एक विशिष्ट पदाधिकारी और अंग्रेजी शासन के

दौरान भारत में सिंचाई-कार्य के आरम्भकर्ता सर ऑर्थर कॉटन की लगातार मांग के बावजूद भी कि रेलों की बजाय सिंचाई-व्यवस्था सरकार के लिए अत्यधिक लाभदायक रहेगी, देश में अन्न उत्पादन के लिए अत्यधिक रहेगी, रेलों को अधिमान्यता दी गई क्योंकि रेलें अंग्रेजों की पूंजी की लागत के लिए, उनके लिए अन्न व कच्चा माल जुटाने के लिए और उनके उद्योगों द्वारा तैयारशुदा वस्तुओं के लिए मंडियों के बढ़ाने के लिए अत्यधिक लाभकारी थी। उसकी १८५४ में की गई टिप्पणियाँ लगभग १०० वर्ष के अंग्रेजी शासन की सिंचाई नीति को स्पष्ट करती हैं-

''सारे भारत में सार्वजनिक कार्यो की लगभग, अवहेलना की गई है।...आदर्श वाक्य अब तक यह रहा है: 'न कुछ करों, न कुछ करवाओ', किसी को कुछ न करने दो चाहे किसी भी तरह की हानि हो, जनता इसी से मर जाये, चाहे जल या सड़कों की कमी के कारण राजस्व में लाखों की कमी हो जाये परन्तु करना कुछ भी नहीं।''[२८१]

१८५७ की महान् क्रांति के बाद १८५७ में ब्रिटिश सरकार ने (ब्रिटिश) लोकसदन में ईस्ट इंडिया कम्पनी के सत्ता को समाप्त करने के लिए एक विधेयक रखा। उस समय मानचेस्टर की कपड़ा मिलो[२८२] के लिए भारत में अधिक कपास उगाने के इच्छुक एक प्रसिद्ध अंग्रेज राजनेता जॉनब्राइट ने (जो लोक सदन में मानचेस्टर चुनाव-क्षेत्र का प्रतिनिधि था) लोकसदन में २४ जून १८५८ को एक भाषण दिया जो १०० वर्ष के ब्रिटिश-शासन के परिणामों का काफी कुछ सार व्यक्त करता है- ''उन महाप्रान्तों में, जो सर्वाधिक समय तक ब्रिटिश शासन के अधीन रहे हैं, भारत की जनसंख्या के एक बहुत बड़े भाग, किसानों, की स्थिति अत्यन्त दीन, अत्यन्त विषादपूर्ण और अत्यन्त यातनापूर्ण है।...संसार के किसी भी देश की अपेक्षा भारत के कर

अधिक दु:सह और दमनात्मक हैं। सरकार द्वारा उद्योगों इतनी उपेक्षा की गई है कि शायद ही सभ्य और ईसाई कही जाने वाली सरकार द्वारा शासित संसार के किसी अन्य देश में की गई हो। मैं भारत के प्रतिष्ठित व्यक्तियों के विवरणपत्रों और स्मरणपत्रों, जैसे कि उदाहरणार्थ बंगाल के राज्यपाल श्री हॉलिडे के हवालों से यह सिद्ध कर सकता हूँ कि बंगाल प्रान्त के पुलिस प्रशासन के अधीन जैसी स्थिति है ऐसी सभ्य कहे जाने वाले किसी भी देश की न है ओर न कभी हुई है। न्यायालयों की स्थिति भी इस प्रकार की है।...यदि मैं भारतीयों की ओर से बोलूं, तो मैं सार्वजनिक कार्यों के बारे में यह कहूँगा कि इंग्लैंड के किसी एक जिले में सारे भारत से अधिक यात्रा योग्य सड़के हैं; और मैं यह भी कहना चाहूँगा कि अकेले एक मानचेस्टर नगर ने केवल जल पर अधिक खर्च किया है बनिस्बत की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने १८३४ से १८४८ तक के चौदह वर्षों में सब प्रकार के सार्वजनिक कार्यो पर अपने इतने बड़े नियन्त्रित देश में किया है। मैं कहूँगा कि भारत सरकार का असली काम तो विजय और विलयन का रहा है जिसके कारण ही इस सदन को भारत के विषय पर ध्यान देने को विवश होना पड़ा है। मुझे डर है कि यदि यह महाविपत्ति न घटती तो सदन भी ऐसा नहीं करता।''[२८३]

इन महान व्याख्यान के २० वर्ष बाद (१८७८) में जब मद्रास और अन्य स्थानों पर भारत को भीषण अकाल का सामना करना पड़ा, तब इसी महान व्यक्ति ने पुनः इसी महान लोक सदन में इसी महत्त्वपूर्ण विषय (सिंचाई) पर भाषण करते हुए, भारत में ब्रिटिश सरकार की उसी महान अवहेलना और गलती की ओर इंगित किया।[२८४]

यदि कोई काम अंग्रेजों के हित में नहीं होता था तो सरकार पहले तो वह काम करती ही नहीं थी और यदि करती तो कछुए की गति से करती; और यदि उनके हित में होता था तो वह एक क्रूर चीते की

तरह छलांग लगाती थी। भारत में मार्च १९०२ तक सिंचाई कार्य में कुछ खर्चा मुश्किल से २ करोड़ ४० लाख पौंड हुआ होगा, जबकि रेलों पर २२ करोड़ ९० लाख पौंड हुआ।[२८५]

इसी प्रकार की भारी उपेक्षा तब भी चलती रही जबकि १९वीं शताब्दी की अन्तिम चौथाई में भारत में बहुत से महाभीषण अकाल पड़े और जबकि समय-समय पर नियुक्त किये गए सरकारी अकाल-आयोग सिफारिश करते रहे कि अकालों से बचने के साधनों में सिंचाई को प्रथम दिया जाए। यद्यपि रेलों से हर वर्ष भारी मात्रा पर घाटा होता था और सिंचाई हमेशा लाभकारी धन्धों में से एक था, फिर भी रेलों को बड़ी आश्चर्यजनक गति से आगे धकेला गया और सिंचाई की घातक उपेक्षा की गई। कारण केवल यही था कि रेलें ब्रिटिश हितों की पूर्ति कर रही थीं, जबकि सिंचाई से ऐसा नहीं हो रहा था।

सिंचाई की यह घातक उपेक्षा केवल १९वीं शताब्दी में ही नहीं, बल्कि बहुत थोड़ी-सी कम मात्रा में २०वीं शताब्दी में भी होती रही। 'वाइसलेस मिलियन्स' के लेखक ने बंगाल के विषय में १९३१ में (अंग्रेजों के भारत छोड़ने के केवल १६ वर्ष पहले) एक तत्कालीन प्रख्यात इंजीनियर को उद्धृत किया है। ''प्रख्यात जलीय इंजीनियर सर विलियम विलकॉक्स ने, जिनका नाम मिस्त्र और मैसोपोटामिया में लगाए गए सिंचाई उद्यमों से जुड़ा है, बंगाल की स्थितियों का हाल ही में सर्वेक्षण किया है। उसने खोज की है कि डेल्टा क्षेत्र की अनेक छोटी-छोटी नदियां जो अपनी दिशाओं को लगातार बदलती रहती हैं, पहले नहरे थीं, और जो अंग्रेजों के राज्य में अपने जलमार्ग से बाहर इधर-उधर जाने दी गई। पहले वे नहरें गंगा के बाढ़ के पानी को बांटती थीं और क्षेत्र का यथोचित जल निकास करती थीं, जो निस्संदेह बंगाल की उस सम्पन्नता का कारण थीं जिसने अठारहवीं शताब्दी के आरम्भकाल

में यूरोप के लोभी व्यापरियों को वहां आकर्षित किया।...न केवल इतना कि पुरानी नहरों का उपयोग और विकास नहीं किया गया, उन क्षेत्रों में रेलवे के बांध भी बनवा दिए गए, जिससे ये नहरें पूर्णतया नष्ट हो गई। कुछ क्षेत्र तो, जिनको चिकनी उपजाऊ मिट्टी वाले गंगा के पानी से वंचित कर दिया गया था, धीरे-धीरे बंजर और अनुपजाऊ बन गए। अन्य क्षेत्र जिनका जलनिष्कासन ठीक नहीं किया गया, जल-आरोहण उन्नत स्थित में है जो अवश्य भारी मलेरिया का कारण है। गंगा के निम्नजल-मार्ग को ठीक से संयोजित करने का कोई भी प्रयत्न नहीं किया गया जिससे विशाल भू-क्षरण को रोका जा सके जो प्रत्येक वर्ष गाँवों, बागों और हरे-भरे खेतों को नष्ट करता है। सर विलियम विलकॉक्स ने बड़े-बड़े शब्दों में वर्तमान प्रशासकों और कर्मचारियों की आलोचना की हैं, जिन्होंने इसके बावजूद भी कि वे हर प्रकार की विशिष्ट तकनीकि सहायता हर समय ले सकते हैं, इस अनर्थकारी स्थिति को, जो प्रत्येक दशक में बद से बदतर होती जा रही है, सुधारने का अब तक एक भी पग नहीं उठाया है।''[२८६]

बीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश साम्राज्य के आर्थिक व राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए कुछ नहरों का, विशेषतया पंजाब में निर्माण किया गया। १९३८ में आर.रेनॉल्ड्स बताते हैं, ''यह सही है कि आधुनिक वर्षों में कपास उगाने को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता के कारण और सिंचाई पर लागत लाभकारी होने की सम्भावना के कारण देश के कई भागों में नहरों का निर्माण कर दिया गया है; यद्यपि बंगाल को अतिरिक्त पूंजी लगाने के योग्य अब तक नहीं समझा गया है। यह भी अनुभूति कर ली गई है कि नहरों के पानी का नियन्त्रण विद्रोही किसान को धमकाने का एक शक्तिशाली राजनीतिक हथियार है। परन्तु इन सबकी अनुभूति होने से पहले कुछ भी नहीं किया गया। ईस्ट

इंडिया कम्पनी ने अपने आदि-काल में न तो स्वयं नहरों की मरम्मत कराई और न ही किसी को करने दी।...अन्ततः जब सिंचाई कार्य का उत्तरदायित्व गम्भीरता से लिया गया, तब लगान इतना बढ़ा दिया गया कि देश के अधिकांश भागों में कृषकों को सिंचाई सुविधाओं से कोई लाभ नहीं हुआ। मुनाफे को तो सरकार, बैंकों, अंग्रेज ठेकेदारों और उनके कर्मचारियों[२८७] ने आपस में विभाजित कर लिया, जो लगभग सारे ही अंग्रेज थे।

कुछ आंकड़े सिद्ध कर देंगे कि कृत्रिम सिंचाई पर, जोकि भारतीय कृषि और भारतीयों के लिए प्राण-शक्ति है, कितना थोड़ा काम किया गया। ब्रिटिश शासन के लगभग १५० वर्षों के बाद ५ वर्षों (१८९६-१९०० में) औसत सिंचाई-क्षेत्र कुल कृषि-क्षेत्र का १७ प्रतिशत था। इस १७ प्रतिशत में से भी सरकार द्वारा केवल ९ प्रतिशत क्षेत्र की सिंचाई की गई थी। लगभग १९० वर्ष के ब्रिटिश शासन के उपरान्त ५ वर्षों (१९४१-४५) में औसत सिंचाई क्षेत्र कुल कृषि योग्य क्षेत्र का लगभग २२ प्रतिशत था, इसमें से केवल १५ प्रतिशत सरकार द्वारा किया गया था[२८८] अतः भारतवर्ष की जलवायु के अनुरूप सरकार ने अपने एक सर्वाधिक आवश्यक दायित्व की घातक उपेक्षा की। और यदि कहीं कुछ थोड़ा बहुत कार्य किया भी गया तो वह मुख्यतः नकदी फसल के लिए किया गया जैसे कि पटसन, कपास, जो ब्रिटिश उद्योगों के लिए चाहिए थी।[२८९] अथवा किसानों के जीवन के मूलाधार पानी को बस में करके उनको स्वतन्त्रता-आन्दोलन से दूर रखने के लिए किया गया।

व्यापारिक और खाद्य फसलों में प्रतिस्पर्धा

ब्रिटिश शासन के दौरान एक और अन्य गम्भीर कृषि समस्या-व्यापारिक और खाद्य फसलों में प्रतिस्पर्धा का उदय हुआ। यह

स्वाभाविक था कि अंग्रेजों को अपने बढ़ते उद्योगों के लिए कच्चे माल, जैसे कि कपास, पटसन, चाय, नील, गन्ना, मूंगफली के उत्पादन में रुचि हो। निदेशकों ने बहुत पहले १७८८ के आसपास ही भारत सरकार को लिखा था कि कपास की खेती को प्रोत्साहन दिया जाए। १८४८ में (ब्रिटिश) लोक सदन के कपास समिति नियुक्त की जिसका मूल उद्देश्य भारत में कपास की खेती को प्रोत्साहन देना था।

अंग्रेजों की स्वादपूर्ति के लिए ब्रिटिश सरकार चीन के अतिरिक्त चाय का एक और स्रोत चाहती थी, उस स्थिति में जब चीन अपनी स्वतन्त्रता प्रकट करे और इंग्लैंड को चाय निर्यात न करे यद्यपि ऐसा कभी नहीं हुआ। ब्रिटिशों की हितपूर्ति का सदैव ध्यान रखने वाली भारत सरकार ने १८३५ में प्रयोगात्मक बागान लगवाये और मुख्यतः यूरोपियों द्वारा अधिकृत बागान (चाय, नील व कॉफी) कम्पनियों को, जो लगभग निर्यात ही करती थीं प्रत्येक प्रकार की सहायता दी जैसे कि आर्थिक सहायता, संरक्षा मुफ्त भूमि इत्यादि। सिवाय थोड़ा बहुत प्रथम विश्वयुद्ध के समय, इस प्रकार की सहायता भारतीय स्वामित्व के उद्योगों के बिल्कुल भी नहीं दी गई।[२१०] इन अतिविशाल लाभ कमाने वाली बागान कम्पनियों को आयकर तक से भी छूट दी गई थी और उनको इन बागान के अभागे श्रमिकों के भाग्य पर लगभग पूरा नियन्त्रण दे दिया गया था।

इन कानूनों के अन्तर्गत, वैधानिक रूप से स्वतन्त्र परन्तु अन्यथा दास किसानों को अन्न की बजाय नील और पोस्त उगाने पर मजबूर किया जाता था, उस समय भी जबकि लाखों लोग अकाल से मर रहे होते थे। १८६६ में बंगाल व उड़ीसा में एक अकाल पड़ा। एक ब्रिटिश अधिकारी ने जिसने इस अकाल की जाँच की, स्वीकार किया

कि खाद्यान्नों की कमी का एक मुख्य कारण नील की खेती को बढ़ाते जाना था, जो हर वर्ष अधिकाधिक भू-भाग को लीलता जा रहा है, जिस पर अन्यथा अन्न उगाया जा सकता था।''[२९१]

परिणाम स्वाभाविकतया यह हुआ कि आधी शताब्दी में (१८९५-९६ से १९४५-४६ तक) व्यापारिक फसलों के उत्पादन में बेतहाशा वृद्धि (८५ प्रतिशत) हुई, जबकि इसी काल में खाद्यान्नों के उत्पादन में ७ प्रतिशत की कमी आयी, यद्यपि, इस ५० वर्ष के काल में प्रतिव्यक्ति कुल फसल उत्पादन में २० प्रतिशत और खाद्यान्न उत्पादन में ३२ प्रतिशत की कमी आई।[२९२] कोई भी नाममात्र की सरकार देश में खाद्यान्न की कमी में सुधार के लिए प्रयास करती। सरकारी रिपोर्ट और सरकारी आंकड़े बार-बार सरकार को यह बता रहे थे कि भारतीय कृषि व्यवस्था में कोई महान दोष है।

देश की खाद्य स्थिति में किसी प्रकार सुधार लाने की बजाय, भारतीयों को विवश किया गया कि वे अपने स्वामियों को जबरदस्ती दिये जाने वाले बढ़ते हुए ख़िराज या गृह-शुल्क की पूर्ति के लिए खाद्यान्नों तथा कच्चे माल का निर्यात करें। सामान्य समय में जबकि बहुधा लोग आधे भूखे रहते थे, और यहाँ तक कि अकाल के समय में भी जबकि लाखों लोग मर रहे होते थे, भारत को खाद्य-सामग्री निर्यात करनी पड़ती थी जो उसे स्वयं चाहिए थी। अकालों में लगातार वृद्धि के बावजूद १९वीं शताब्दी के मध्य के बाद खाद्यानों के निर्यात में बहुत अधिक उल्लेखनीय वृद्धि हुई १८४६ में जितने खाद्यान्न का निर्यात किया जाता था, १९१४ में इसका २२ गुना से भी अधिक का निर्यात् किया गया- जिस खाद्यान्न की भूखों मर रहे भारत को आवश्यकता थी, उसे ब्रिटेन उड़ाकर ले जाता था।

१९२१ तक भारत खाद्यान्न का निर्यातक था, परन्तु उसके बाद भारत को अपना पेट भरने के लिए आयातक बनना पड़ा, इस बात के बावजूद भी कि उसकी लगभग ८० प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ तक ये आयात लगातार बढ़ते ही गए। युद्ध के दौरान आयात बंद कर दिये गए और ब्रिटिश युद्ध की बढ़ती हुई मांगों की पूर्ति के लिए भारत को खाद्यान्नों का निर्यात करना पड़ा। इसके ही कारण १९४२-४३ में बंगाल में अकाल पड़ा, जो पुनः यह साबित करता है कि गोरों का मानव-प्राणरक्षा से कोई सरोकार नहीं, यदि वह किसी भी प्रकार से उनके भौतिक हितों के विरुद्ध हो।

युद्ध के बाद भारत ने फिर से खाद्यान्न का आयात शुरु किया। जिस समय अंग्रेजों ने भारत छोड़ा तब तक भारत खाद्यान का आयात कर रहा था, जबकि अंग्रेजों के भारत-आगमन तक भारत 'एशिया की कृषीय माता' (अन्नपूर्णा) कहा जाता था।

ऐसी परिस्थितियों में जहां अंग्रेजों ने सामन्तशाही की रक्तिम व्यवस्था का निर्माण कर दिया; जहाँ कृषकों की आय का बहुत बड़ा भाग या तो लुटेरी सरकार की कमरतोड़, भारी और अनिश्चित मांगो को, या अंग्रेजों द्वारा निर्मित जमींदारों ओर साहूकारों की मांगों को, पूरा करने के लिए खर्च किया जाता था जहाँ आय के स्रोत घटाकर केवल कृषि तक ही सीमित कर दिये गये थे, और जहाँ आमदनी का एक बड़ा भाग विदेशों को भेज दिया जाता था, जो किसी भी आकार या प्रकार के भारत में पुनः नहीं लौटता था, ऐसी स्थिति में किंचित भी आश्चर्य की बात नहीं कि भारत में १९० वर्षों के ब्रिटिश-शासन के दौरान अकालों के कारण उससे बहुत अधिक लोगों को मृत्यु हुई, जितनी कि शायद संसार के किसी और भाग में इतनी अवधि में हुई हो।

❑❑❑

आठवां अध्याय

करोड़ों की मौत और अंग्रेजों की बहानेबाजियां

अकाल

औद्योगिक क्रांति से पहले संसार का कोई भी भाग, भारत समेत, अकालों से पूर्णतः मुक्त नहीं रहा।

ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी में भारत स्थित यूनानी राजदूत मैगस्थनीज की धारणा थी कि ''भारत पर अकाल की कोपदृष्टि कभी नहीं पड़ी, और न ही कभी पौष्टिक आहार की कमी रही।''[२९३] लगभग १४२० ई. में निकोलोकौन्टी नामक एक इटालवी वणिक्-यात्री ने भारत-यात्रा की। वह लिखता है, ''महामारी को तो भारतीय जानते तक नहीं, और न ही वे उन बीमारियों से परिचित हैं जो हमारे देशों में जनता का सफाया कर देती हैं।''[२९४] विलियम डिग्बी के अनुसार ''ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ से अट्ठारहवीं शताब्दी में अंग्रेजी शासन के आरम्भ सन् १७६९ तक अट्ठारह अकाल पड़े, जो लगभग सबकें सब स्थानीय क्षेत्रों तक ही सीमित रहे।''[२९५]

उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग, मध्य से, औद्योगिक क्रांति के बाद यूरोप में अकाल लगभग समाप्त हो गये, परन्तु इसी अवधि में भारतवर्ष में अकाल अधिक बारम्बार और भयंकर रूप में आएं ऐस होना कोई अनपेक्षित बात नहीं थी। जबकि यूरोप निरन्तर अमीर होता जा रहा था, भारत अपने मालिकों के हितसाधन में निरन्तर निर्धनता के दलदल में धंसता जा रहा था।

भारत में अंग्रेजी राज्य के आरम्भ, मध्य और अन्त में भयंकर अकाल पड़े। अंग्रेजों द्वारा सन् १७६५ में दीवानी अधिकार (असैनिक प्रशासन) प्राप्त करने के चार वर्ष बाद ही सन् १७६९-७० में (जैसे

पहले बताया गया है) भयंकर अकाल पड़ा। अंग्रेजों के भारत छोड़ने से चार वर्ष पहले सन् १९४२-४३ में भी भयंकर अकाल पड़ा, यद्यपि इस समय तक अंग्रेजी-भारत के पास देश या विश्व के एक कोने से दूसरे कोने तक शीघ्रता से खाद्यान्न लाने ले जाने के लिए रेल तथा भाप-चलित तीव्रगामी जलपोतों के पर्याप्त साधन उपलब्ध थे।

सन् १७३५ से १८५८ के ९३ वर्षों में, भारत को १२ अकालों एवं चार कड़े अभावों का सामना पड़ा। १८६० से १९०८ के ४८ वर्षों में भारतवर्ष में २० अकाल पड़े। समय को यदि और सिकोड़ें तो १८७६ से १९०० तक भारत में अठारह अकाल पड़े, जिनके कारण दो करोड़ साठ लाख लोग मर गए। सरकारी आंकड़ों के अनुसार १ जनवरी १८८९ से ३० सितम्बर १९०१ तक भूख या भूख से उत्पन्न बीमारियों के कारण हर दिन-रात के हर एक मिनिट में दो ब्रिटिश भारतीय नागरिक मृत्यु को प्राप्त हुए।[२९६] ये असली अकाल थे जिनमें करोड़ों लोग मृत्यु के घाट उतर गए। सन् १८८० के बाद भी भारत को घोर अभावों का सामना करना पड़ा, यद्यपि सरकार ने इस बात को स्वीकारा नहीं।

सन् १९०८ से १९४२ तक यद्यपि देश में कोई भयानक अकाल नहीं पड़ा, फिर भी सारे देश में घोर अभावो की काली घटाये छायी रही, अतः अकाल अब भारत में एक अजनबी या विरले अतिथि की तरह नहीं रह गए थे, जैसे कि वे ब्रिटिश-पूर्व भारत में होते थे, बल्कि अंग्रेजी शासन में घर के एक नियमित सदस्य की तरह हो गए थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग मध्य के बाद अकालों के स्वरूप में मूलभूत परिवर्तन आया। इससे पहले अकाल देश के किसी भाग में सूखा होने के कारण पड़ते थे। साथ ही उन दिनों शीघ्र यातायात के अभाव के कारण पर्याप्त खाद्यान्न वाले स्थान के कमी वाले स्थान पर

शीघ्रता से अन्न नहीं पहुँचाया जा सकता था। दूसरे शब्दों में, मुख्यतया से फसलों से सम्बद्ध अकाल थे। परन्तु लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के बाद क्योंकि भारत में रेलों और भाप चलित समुद्री जहाजों के कारण देश के किसी और भाग से अथवा विदेश से अन्न का आयात किया जा सकता था। अन्न खरीद तो सकते थे परन्तु निर्धनता के कारण ऐसा करने में असमर्थ थे कारण कि कीमतों के अनुपात में उनके वेतन नहीं बड़े थे और ऐसे बेरोजगार लोग बहुत थे जिनके पास कोई आमदनी का साधन नहीं था। दूसरे शब्दों में मुख्य रूप से अकाल फसल–सम्बद्ध होने के स्थान पर अब आर्थिक सम्बन्धी बन गए थे। १९२० के दशक में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ओर ब्रिटिश लेवर पार्टी के नेता जे. रैमजे मैक्डोनॉल्ड ने लिखा : ''अकाल का विश्लेषण करते समय पहले यह जानना जरूरी है कि अकाल क्या है और कैसे पड़ता है। बुरे से बुरे दिनों में भी अकाल पीड़ित जिलों में अन्न की कमी नहीं रही, सिवाय १९०६–७ में दरभंगा जिले में, यहाँ बाढ़ के कारण अकाल की स्थिति आई थी।...सन् १९०० में पड़े गुजरात के अकाल के बहुत बुरे दिनों में भी सरकारी आंकड़ो के अनुसार जिले के खाद्यान्न की कमी नहीं, अकाल का कारण पूंजी का विनाश और परिणामस्वरूप श्रम की मांग की समाप्ति है। मूल्य वृद्धि के साथ वेतन की कमी और बेरोजगारी मिल जाते हैं तो लोग खाद्यान्न की विपुलता के बीच भी भूखे मर जाते हैं।''[२९७]

''जो अकाल भारत का विनाश कर रहे हैं,'' एक अन्य ब्रिटिश राजनीतिज्ञ एच.एम.हिन्डमन ने कहा, ''मुख्यतया आर्थिक अकाल हैं। लोगों को भोजन इसलिए नहीं मिलता, क्योंकि खरीदने के लिए उनके पास पैसा नहीं होता। फिर भी हम कहते हैं कि इन लोगों पर और अधिक कर लगाने पर मजबूर होना पड़ता है।''[२९८]

जॉर्ज टामसन ने १८३९ में मानचेस्टर में छः व्याख्यान दिये। बाद में ये व्याख्यान 'ब्रिटिश भारत पर जॉर्ज टामसन के व्याख्यान' नामक पुस्तकाकार में प्रकाशित हुए। उसने लिखा, ''११-भारत की दशा? लोगों की हालत देखिए जो दरिद्रता के लगभग निम्नतम स्तर तक पहुँचा दी गई है। सभी वर्गों को यथासंभव गरीब बना दिया गया है। राजे-महाराजे अपदस्थ कर दिये गए हैं; कुलीन व्यक्तियों को अप्रतिष्ठित कर दिया गया है। भूस्वामियों का विनाश कर दिया गया है, मध्यवर्गियों को समाप्त कर दिया गया है, कृषकों को बरबाद कर दिया गया है, महान नगर गाँवों में बदल दिये गए हैं, और गाँव खंडहरों में बदल गये हैं। हर दिशा में भिक्षावृत्ति, डाकुओं के दल, और विद्रोह बढ़ रहे हैं। यह कोई अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन नहीं है। यही स्थिति है भारत की, अनेक स्थानों पर सर्वोत्तम उपजाऊ जोतों को भी बेकार छोड़ दिया गया है और जंगली पशुओं के हवाले किया जा चुका है। उद्योगों के लिए प्रेरणा को नष्ट कर दिया गया है। भूमि भी मानो किसी अभिशाप से ग्रस्त है, देश के भिन्न-भिन्न भागों के निवासियों और अपनी जनता के लिए यथेष्ट खाद्यान्न उत्पन्न करना तो दूर रहा, यह अपनी गोद में पल रहे बच्चों की उदरपूर्ति करने में भी समर्थ नहीं है। यह भूमि करोड़ों लोगों का कब्रिस्तान बन गई है, जो रोटी-रोटी चिल्लाते हुए इसकी छाती पर गिरकर मर जाते हैं।''

इसके बाद टामसन १८३८ के बीभत्स अकाल का वर्णन करता है। जो घटना 'असाधारण और अनपेक्षित' नहीं थी और जो अन्य कई अकालों के बाद घटी थी। यह अकाल जो 'मृत्यु का उत्सव' था बंगाल प्रान्त में पड़ा जिसमें 'कुछ थोड़े से महीनों में ही' भूख से 'पाँच लाख लोग' मृत्यु के कराल गाल में समा गए। इसके पूर्व घटित अन्य अकालों का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि ''हमारे शासन में वे

(अकाल) आधी शताब्दी से भी अधिक है बारम्बार और व्यापक रूप में बढ़ते गये हैं।'' ऐसा क्यों? इस प्रश्न का उत्तर स्वयं टामसन देता है:

''क्या आप जानना चाहोगे कि मानव जीवन का इतना व्यापक विनाश क्यों हुआ? इसका उत्तर मैं देता हूँ, और ऐसा करते हुए मैं यह पूर्णरूपेण जानता हूँ कि भारत सरकार पर देश में और विदेश में किस प्रकार का दोषारोपण कर रहा हूँ और मैं इस पर डटे रहने के लिए तैयार हूँ क्योंकि यथार्थरूपेण उनकी धरती छीन ली गई है, उन्हें अपने उद्योग धंधों के फलों से वंचित कर दिया गया है, सूखे की एक अवधि का भी सामना करने के लिए साधन जुटा रखने से रोक दिया गया है और इस प्रकार उन्हें मानो मृत्यु की ही सजा दे दी गई है जिसका अर्थ यह है कि यदि एक मौसम में भी धरती अच्छी फसल न दे तो लोगों की मृत्यु निश्चित है। हमारी सरकार (एक उच्च पदस्थ अधिकारी के शब्दों में)व्यावहारिक तौर से एक ऐसे बेहद लुटेरी और दमनकारी सरकार है जैसी कहीं भी किसी भी समय में हुई होगी। (ब्रिटिश)जनसदन की एक समिति ने भी घोषणा की थी कि भारत में हमारा मालगुजारी का ढंग नियमित रूप से लूट-खसोट का और अन्यायपूर्ण है, जो कृषकों के पास कुछ भी नहीं रहने देता सिवाय उसके जो वह छल-कपट से छिपाकर अपने पास रख लेते हैं। हमारी सरकार के विनाशकारी रवैये को स्पष्ट करने के लिए इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता कि अकाल लगभग आम हो गए हैं और यह कि लाखों की संख्या में लोग इसके शिकार हो रहे हैं तथा ये अकाल उन जिलों में पड़ रहे हैं जहाँ की भूमि संसार में सर्वाधिक उपजाऊँ है और उस काल में जबकि पूर्ण आन्तरिक शांति है। भारत की व्यवस्था की इस दुर्दशा का महा कारण भूमिकर है।''

इसके बाद थॉमसन ने कमरतोड़ भूराजस्व (मालगुजारी) की वसूली में अपनाये जाने वाले बर्बरतापूर्ण तरीकों को वर्णन किया है[२९९] जिनका जिक्र पहले किया जा चुका है।

महान् अंग्रेज महिला 'लेडी ऑफ दी लैम्प'– फ्लोरेंस नाइटिंगेल को उद्धृत करते हुए, एक प्रख्यात अमेरिकी अर्थशास्त्री कहता है, "भारत के प्रति अपनी संवेदना प्रकट करती हुई फ्लोरेंस नाइटिंगेल (१८७८ में) लिखती है कि, "हम भारतीय जनता की तनिक भी परवाह नहीं करते, हमारे पूर्वी साम्राज्य के कृषक की स्थिति सिर्फ पूर्व में ही नहीं संभवतः समूचे विश्व में, सर्वाधिक दुःखद है।" और वह वीभत्स अकालों का कारण करों को बतलाती है जो कृषकों से खेती करने के साधनों तक को भी छीन लेते हैं, और हमारे कानूनों की पोष्य पुत्री वह वस्तुतः दासता है, जिसके कारण विश्व के सर्वाधिक उपजाऊ देश के बहुत से स्थानों में पीस देने वाली, स्थायी अर्ध–भुखमरी की स्थिति पैदा हो गई है, यद्यपि वह अकाल कही जाने वाली स्थिति नहीं है।"[३००]

खाद्यान्न की कीमतें न केवल उन क्षेत्रों में बढ़ीं जहां खाद्यान्नों की वास्तविक कमी थीं अपितु वहाँ भी जहाँ खाद्यान्नों का प्राचुर्य था। इसका कारण यह था कि पराधीन भारत को चाहे अकाल पड़े या न पड़े, मालगुजारी तथा अन्य करों को चुकाने के लिए विवश होकर खाद्यान्न का इंग्लैंड को निर्यात करना पड़ता था। भारतीय सरकार ने इतनी क्रूरता से इस नीति को अपनाया कि अपने ही बंगाल के उप–राज्यपाल, सर जार्ज कैम्बल, के प्रस्ताव को भी कि बंगाल से, जिसका एक भाग १८७३ में भयंकर अकालग्रस्त था, चावलों का निर्यात बंद कर दिया जाए, (ब्रिटिश) राज्य (विदेश) मंत्री की सलाह से रद्द कर दिया। इसके स्थान पर संकट का सामना करने के लिए सरकार ने वर्मा से चावल आयात करना उचित समझा। निर्यात समाप्त न करने की इस

नीति पर टिप्पणी करते हुए सर जॉर्ज ने कहा, ''इसमें मुझे कोई भी संदेह नहीं कि किसी भी गैर अंग्रेजी राज्य में ऐसा कर दिया गया होता।''[३०१] एक ओर निर्यात बरकरार रखने और दूसरी ओर उन्हीं वस्तुओं का आयात करने की इस बेतुकी नीति को अपनाकर 'लाखों रुपयों को बर्बाद' (सर जॉर्ज के शब्द) क्यों किया गया? इसका कारण इंग्लैंड का निजी स्वार्थ था, जो चाहे कुछ भी हो सदैव सर्वोपरि था। यदि अंग्रेजों की जेबों में कुछ भी धनराशि आ सकने की संभावना होती थी, तो वे लाखों मनुष्यों व विशाल धनराशि का बलिदान करने में पलभर के लिए भी हिचकिचाते नहीं थे। आयात-निर्यात दोनों में अंग्रेजों और उनके एजेंटों को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से वाहन के भाड़ों, बीमा, दलाली आदि से लाभ होता था। यहीं नहीं, खाद्यान्न के निर्यात करने से अंग्रेजों को सस्ता अन्न भी मिलता था। परन्तु सवाल तो यह है कि यह 'लाखो रुपये' किसने बलिदान किए? उत्तर स्पष्ट हैः भारत की जनता ने।

भारतवर्ष में अंग्रेजी राज की पूर्णता व पराकाष्ठा बंगाल में १९४२-४३ में पड़े भयंकर अकाल में पहुँची। इस 'मानव निर्मित' अकाल में १५ लाख (सरकारी अनुमान) से लेखकर ३४ लाख (कलकत्ता विश्वविद्यालय के अनुमान) तक लोग मर गये। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के लिए लाखों की संख्या में जनता ने अपना बलिदान दिया, जिसका मुख्य कारण सर्वाधिक वेतन प्राप्त सरकारी अधिकारियों की प्रशासनिक अकुशलता और कुछ हद तक अवहेलना थी। सरकारी अकाल जाँच-आयोग ने उसी को दोषी बतलाया जो उसके उपयुक्त थाः ''परन्तु सभी परिस्थितियों के अवलोकन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे बिना नहीं रह सकते कि बंगाल की सरकार उचित समय पर सुस्पष्ट, दृढ़ और सुविचारित कदम उठाकर अकाल की दुर्घटना को रोक सकती

थी एवं भारत सरकार भी घटना के समय से पर्याप्त पूर्व खाद्यान्न के सुयोजित आवागमन की आवश्यकता को समझने में असफल रही।''

''प्रान्त के निम्न आर्थिक स्तर, उद्योगों की अनुपस्थिति में भूमि पर बढ़ रहे भार, जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग कठिनता से जीवन-निर्वाह करता हुआ, और किसी प्रकार के तीव्र आर्थिक कष्ट को सहन करने में असमर्थ था- बहुत बुरी स्वास्थ्य-स्थिति एवं पौष्टिक आहार का निम्नस्तर, और फिर स्वास्थ्य या आर्थिक दृष्टियों से किसी भी प्रकार की 'सुरक्षा व्यवस्था का अभाव'- इन सबका भी उल्लेख आयोग ने किया।''[३०२]

अंग्रेजों के भारत छोड़ने से केवल दो वर्ष पहले आयोग ने जिस विनाशक आर्थिक स्थिति का उल्लेख किया था, वे सब सुयोग्य पर्यवेक्षकों को सदा के ज्ञात थे। समय-समय पर नियुक्त किये गए सरकारी अक८ाल आयोगों तक ने भी इन्हीं समस्याओं का उल्लेख किया था। उदाहरणार्थ, उत्तर भारत में आए १८६० के भीषण अकाल के बाद सरकार ने इसके कारणों की छानबीन के लिए कर्नल बेअर्ड स्मिथ को नियुक्त किया। उसने स्पष्ट लिखा है कि ''देश में खाद्यान्न को कमी के कारण आया। उसने यह भी बताया की लोगों की जीवन शक्ति इस बात पर बहुत निर्भर है कि वे किस प्रकार की भू-व्यवस्था के अन्तर्गत रहते हैं। उसने इस बात पर बल दिया कि सिंचाई कार्यों, सड़कों एवं संचार सुविधाओं का विकास और समापन किया जाए।''

सन् १८८० में पूर्वोक्त दुर्भिक्ष आयोग ने सरकार को बताया कि अकाल का मुख्य कारण यह था कि केवल कृषि के अतिरिक्त लगभग और कोई भी उद्योग नहीं रहा, जिस पर जनता निर्भर रह सके।

अंग्रेज न तो क्रूर मालगुजारी व अन्य करों में कुछ छूट देना चाहते थे, न ही जमीदारों व महाजनों को हटाना चाहते थे, न उद्योगों

व सिंचाई को प्रोत्साहन देने को तत्पर थे एवं न ही जनता की कर-राशि के अधिकांश भाग को इंग्लैंड भेजना बंद करने के लिए तैयार थे। आर्थिक स्थिति को सुधारने और अकालों को समाप्त करने के लिए ऐसे बुनियादी परिवर्तन करने की बजाय भारत सरकार ने प्रायः स्वनिर्मित अकाल से पीड़ित लोगों के कष्टों को दूर करने के लिए अकाल-सहायता कोष की स्थापना की।

अनिच्छापूर्वक कार्यान्वित दुर्भिक्ष-सहायता के खर्चे को पूरा करने के लिए सरकार ने पहले से ही दारिद्य एवं कर-भार से दबी जनता पर और अधिक कर लगाये। परन्तु, ऐसा करते समय अपने स्वार्थे की पूर्ति के लिए निर्मित लोगों जैसे कि जमींदारो, महाजनों, बागान-स्वामियों को तनिक भी स्पर्श नहीं किया, न ही अपने अन्धाधुन्ध फिजूल खर्चों को कम किया एवं न ही सर्वाधिक वेतन प्राप्त सरकारी नौकरों के वेतनों में कोई कटौती की। अंग्रेज सरकार शाहीलॉक की तरह थी, जो अपने मोटे-मोटे वेतनों और शोषण के लाभों का न केवल सारे का सारा पौंड लेती थी, बल्कि जनता के रक्त की एक-एक बूंद तक चूसती थी, जिस (जनता) की खर्च करने में कतई कोई आवाज, बीसवीं शताब्दी के बहुत थोड़े वर्षों को छोड़कर, कभी नहीं थी। तथाकथित दुर्भिक्ष सहायता कोष का परिणाम यह हुआ कि इसके नाम पर गरीबी ही नहीं दुर्भिक्ष के नीचे भी दबी उस शेष जनता पर और अधिकाधिक कर लगाया गया, जो लोग अगली बार में फिर एक अकाल के शिकार बनने वाले थे।

सन् १९०८ में एक अमेरिकी अर्थशास्त्री ने लिखा, ''सरकार ने दुर्भिक्षों के प्रभाव को कम करने के लिए जो पग उठाए हैं, उन्हीं पगों ने कर और बढ़ाकर अकालों के वास्तविक कारण को और भी तीव्र और विस्तृत कर दिया है। यद्यपि हाल ही में दक्षिण भारत में पड़े

अकाल के कारण अनुमानतः साठ लाख लोग सीधे भूख से मर गये थे और शेष की बची विशाल जनता वास्तव में अधनंगी हो गई थी, तब भी करों में कोई कमी नहीं की गई और नमक कर, जो इन बहुधा गरीब लोगों के लिए पहले से ही निषेधात्मक था, चालीस प्रतिशत बढ़ा दिया गया जिस तरह से १७७० ई.में बंगाल में पड़े भीषण दुर्भिक्ष के बाद जीवितों पर कर बढ़ा कर और उनको सख्ती से एकत्रित करके राजस्व में वृद्धि की गई थी।[३०४]

कहने को तो दुर्भिक्ष सहायता कोष अकालों के कष्टों को दूर करने के लिए बनाया गया था, परन्तु लिटन (भारत के वायसराय) की सरकार, उदाहरणार्थ, इस 'अकाल-कोष' को अफगान युद्ध के लिए प्रयोग करने में नहीं हिचकिचाई, जो युद्ध केवल ब्रिटेन के साम्राज्यवादी हितों के लिए लड़ा गया था, जबकि १८७७-७८ में केवल उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में ही १३ लाख लोग दुर्भिक्ष से मर रहे थे। लिटन के शासनकाल में (अप्रैल १८७६ से मई १८८० तक) दुर्भिक्ष से मरने वालों की कुल संख्या, उत्तर-पश्चिमी प्रान्त से १३ लाख मृतकों के अतिरिक्त, सकारी तौर पर ५० से ६० लाख के बीच अनुमान की गई थी।''[३०५]

ब्रिटिश-समर्थक उनके शासनकाल के दौरान बार-बार पड़ते अकालों के दो कारण बतलाते हैं। पहला यह कि अकाल अंग्रेजों द्वारा भारत में लायी गई 'सर्वव्यापक शांति' की दुःखद अनिवार्यता थे, और दूसरा यह कि भारतीय बहुत बच्चे पैदा करते हैं, जिसके कारण अकाल पड़े।

अंग्रेजों की शान्ति, कानून और व्यवस्था

ब्रिटिश साम्राज्यवादी भारत में अपनी शान्ति, कानून और व्यवस्था की ऐसी दुहाई देते हैं जैसे कि मानो उनसे पहले भारत हिंसक और लड़ाकू लोगों को देश था, जिनको शांति और व्यवस्था का अर्थ भी

मालूम नहीं थी। इस बात में कोई संदेह नहीं कि अन्तिम प्रमुख मुगल सम्राट औरंगजेब की १७०७ में मृत्यु के बाद देश के कुछ भागों में अस्तव्यस्तता और अराजकता का वातावरण था, जिसमें स्वयं अंग्रेजों का महत्त्वपूर्ण हाथ था। परन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं कि किसी लम्बे समय तक भारत में कानून-हीनता रही। इंग्लैंड सहित संसार के अन्य भाग भी कानून-हीनता और गृहयुद्धों से उन्मुक्त नहीं थे। एक प्रख्यात भारतीय इतिहासकार के अनुसार, औरंगजेब के पतन से लेकर अंग्रेजी शासन की स्थापना (१७०७-५७) का यह संक्रमण काल- ''किसी भी प्रकार से सामान्य नहीं माना जा सकता और सारे भारतीय इतिहास से ज्ञात होता है कि ऐसे प्रायः एक साम्राज्य के पतन के बाद अस्तव्यस्तता एवं अराजकता की स्थितियां सदा ही, आगामी स्थिर और कार्यकुशल सरकार की स्थापना की केवलमात्र पूर्वसूचना देती रहीं।''[३०६]

जैसा कि हम पहले इंगित कर चुके हैं कि १७५७ में भारत में अपना साम्राज्य स्थापन करने के बाद अंग्रेजों ने इस देश को लगभग ३० वर्षों के लिए नितांत कानूनहीनता और अराजकता के गर्त में धकेल दिया। केवल १९वीं शताब्दी में ही अंग्रेजों ने कम से कम १११ बार सैनिक युद्ध-अभियान और सैनिक मुहिम किये।[३०७] जहाँ तक जान-माल की सुरक्षा एवं कानून के सिद्धांतों पर आधारित कुशल प्रशासन-व्यवस्था का सम्बन्ध है, एक प्रख्यात भारतीय इतिहासकर कर दृढ़ मत है कि ''ये भारत में अंग्रेजी राज की पहली शताब्दी के अन्त तक (अर्थात् कुल अंग्रेजी शासनकाल के आधे से अधिक-५३ साल) स्थापित नहीं हुए थे, या कम से कम अधिकांश रूप से अनुपस्थित थे।''[३०८]

मूल बात यह है कि अंग्रेजों ने जो तथाकथित शांति स्थापित की, वह अपने निजी स्वार्थों के लिए की। शोषणात्मक नीतियों को बनाये

रखने के लिए शांति का होना पूर्वाकांक्षित था। घर में घुसने वाले डाकुओं की तुलना से इस बात को समझाया जा सकता है। भीतर घुस जाने के बाद भी यदि घर के लोग उनसे लड़ते रहें तो वे अपने कार्य में सम्भवतः सफल नहीं हो सकते। डाकुओं को यह देखना होगा कि घर वालों को शान्त रखा जाये, और उनको स्वयं के द्वारा (डाकुओं द्वारा) स्थापित 'कानून और व्यवस्था' में आवश्यक रूप से रखा जाये। ऐसा करने के लिये वे या तो घर वालों को मार देंगे या मुँह बन्द कर हाथ-पैर दृढ़ता से बांध देगे। और यदि वह अंग्रेजों की भांति चतुर और धूर्त हुए तो घर के भीतर ही कुछ इस तरह की स्थितियां उत्पन्न कर देंगे जिससे घर के लोग आपस में ही लड़ना शुरू कर दें। इस प्रकार जब घर वाले शान्त कर दिए गये हों या आपस में लड़ रहे हों, तब डाकू अपना काम 'शान्ति से' कर सकते हैं। डाकू इस बात की भी निगरानी रखेंगे कि उनकी गतिविधियों में रोड़ा अटकाने या उनके लूट के माल में हिस्सा लेने वाला कोई दूसरा आदमी भीतर न घुसने पाए। ऐसा करने के लिए वे अपने कुछ साथी-डाकुओं को नजर रखने के लिए और यदि कोई भीतर घुसने की कोशिश करे तो उसे गोली मारने को तैयार रहने के लिए दरवाजे पर खड़ा कर देंगे। कोई भी समझदार आदमी डाकुओं द्वारा कायम इस 'शान्ति, कानून और व्यवस्था' की सराहना नहीं करेगा। भारतवर्ष में अंग्रेजों की गतिविधियां भी दूसरों के घर में घुसने वाले डाकुओं के ही समान थीं। अपने शासन के पहले १०० वर्षों में अंग्रेज लोगों के हाथ-पैर बांधकर उनकों लूटने के अलावा, उनका बध करने, उनको अपंग करने एवं उनका अपहरण करने के जरिए से तथाकथित 'कानून एवं व्यवस्था' तथा 'शान्ति' स्थापित करने में व्यस्त रहे। जिसकी पराकाष्ठा सन् १८५७ के विद्रोह के रूप में हुई

जिसमें अंग्रेजों ने ''वास्तव में विशालतम पैमाने पर क्रूरतम अत्याचार किये''[३०९] और जिसमें उन्होंने निरपराध बच्चों और स्त्रियों सहित कम से कम एक लाख भारतीयों की जानें लीं,[३१०] और जब इतने लोगों को मारने के बाद 'शान्ति' की स्थापना हुई, तब उन्होंने अपनी करतूतें काफी बढ़ा दीं, यद्यपि मारधाड़ बिलकुल बन्द नहीं हुई। परिणामस्वरूप करोड़ो लोगों को मरघट की शान्ति देखनी पड़ी और जो बच गये उनके हाथों-पैरों में बेड़ियां पड़ गई। अंग्रेजों ने सब कारनामे अपने अनेकों कारिन्दों के अतिरिक्त सेना एवं पुलिस की सहायता से किये। चाहे युद्ध हो या शान्ति, सेना पर व्यय (पुलिस को छोड़कर) कुल बजट के २५ प्रतिशत से कम कभी नहीं रहा; प्रायः इससे कहीं और अधिक होता था। यह सेना दरवाजे पर पहरा देने वाले डाकुओं की तरह थी जो यह देखती थी कि घर की 'शान्ति' कोई और भंग न करे और यदि पुलिस अपर्याप्त सिद्ध हो, तो भारतीयों को भी चुप किये रखे।

'शान्ति', 'कानून और व्यवस्था' तभी वांछनीय हैं यदि कानून अच्छे हों, और यदि वे बहुमुखी राष्ट्रीय प्रगति के मार्ग-द्रष्टा होते हैं। परन्तु यदि वे उन्नति को राकें, तब ऐसे 'शांति' व 'कानून और व्यवस्था' अवांछनीय हैं और उनको समाप्त करना ही उचित है। 'शान्ति' और कानून' सभ्यता के लिए चाहे कितने भी आवश्यक हों, परन्तु उनमें वास्तविक सभ्यता निहित नहीं है। ये सभ्यता के लिए खतरनाक भी बन सकते हैं, यदि ये राष्ट्र को धराशायी और नीचा रखने में सहायक हों।''[३११] ऐसा एक प्रख्यात डच इतिहासकर जेन हुई जिंगा ने कहा है, ''व्यवस्था शासन के अस्तित्व का औचित्य-प्रतिपादन करती है, उसके उद्देश्य या विशिष्टता को नहीं।''[३१२] यह जे.एस.मिल ने कहा। 'किसी भी कीमत पर शान्ति' सम्भवतः मानवीयता का मार्ग कभी नहीं रहा है, अपितु अधिकतम प्रचलित घोषणाएं तो 'न्यायोचित

शांति' या 'सम्मान सहित शांति' की ही अतीत और वर्तमान में सुनाई देती है, यहाँ तक की शांति को भी पोप पॉल छठे ने इस प्रकार परिभाषित किया है। ''न्याय या सम्मान के बिना शान्ति, या दुष्टता के आगे झुकने से स्थापित हो गई शान्ति, भय की प्रतीक है। न्यायपूर्ण शान्ति को ही (पोप) जॉन तेईसवें ने अपने सार्वभौम आदेश-पत्र 'पार्सेम इन टेरिस' में परिभाषित किया है कि यही ईसा की शान्ति है।''[३१३] संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश सचिव विलयम जैनिंग्स ब्रायन १९१५ में अंग्रेजों द्वारा भारत में स्थापित 'शान्ति' और 'व्यवस्था' का वर्णन इस प्रकार किया : ''बात यह है कि इंग्लैंड ने भारत को इंग्लैंड के लाभ के लिए प्राप्त किया, न कि भारत के; और उसने भारत को कब्जे में अपने लाभ के लिए जकड़ा हुआ है, न कि भारत के लाभ के लिए। हर विषय पर हुकुमत करता है और ठीक उसी तरह से निर्णय देता है जैसे कि कोई न्यायाधीश देता है जैसे यदि वह अपने स्वयं के ही मुकदमे का निर्णय करें'' ''बिट्रेन में अनेक पूर्ववर्तीयों की तरह यह प्रदर्शित कर दिया है कि मनुष्य अपनी गैर जिम्मेदार सत्ता को विवेक तथा न्यायपूर्ण ढंग से असहाय जनता पर स्थापित करने में समर्थ हैं। उसने भारत के हित में यदि कुछ काम किया भी है तो बदले में उसने बहुत कीमत ऐठीं है जहाँ वह (इंग्लैंड) जीवितों के बीच शान्ति स्थापित करने की शेखी मारता है, उसने करोड़ों को मरघट की शान्ति प्रदान की है। जहाँ परस्पर वह युद्धरत दलों के बीच व्यवस्था स्थापित करने की बात कहता रहता है, उसने देश को विधिवत लूटमार से दरिद्र बनाकर रख दिया है। यद्यपि लूटमार एक कड़ा शब्द है, परन्तु और कोई अन्य शब्द वर्तमान अंग्रेजी अत्याचारों का ठीक रूप से वर्णन नहीं कर सकता।''[३१४] अंग्रेजी तानाशाही के अन्तर्गत, भारत के महान् वयोवृद्ध पुरुष ने १८९७ में घोषित किया था, ''देश में शान्ति और कोई हिंसा

नहीं है, परन्तु उसकी धन सम्पत्ति अदृष्ट रूप से शान्ति तथा बड़ी सफाई के साथ निचोड़ ली जाती है। भारतीय लोग शान्ति से भूखे रहते हैं और शान्ति, कानून और व्यवस्था सहित मर जाते हैं।''

सत्य और ईमानदारी के प्रचारक भारत के महात्मा गांधी को भी घोषित करना पड़ा था कि ''अंग्रेजी राज ने भारत में जिस प्रकार की शांति की स्थापना की है, वह युद्ध से भी बुरी है।''[३१६]

भारतवर्ष में की गई अपनी तबाही को शान्ति का नाम देने वाले इतिहास में अंग्रेज पहले नहीं थे। रोमनों के बारे में, कार्थेज को बिलकुल नष्ट कर देने के बाद यह ठीक ही कहा जाता है कि ''उन्होंने तबाही को 'शांति' कहा। इधर-उधर पूरब और पश्चिम-उस (रोम) ने मरुस्थल बनाकर रख दिया और उसको शांति का नाम दिया।''[३१७] इसी प्रकार ''हमने भी जिन्होंने भारत को गरीबी और पतन तक धकेल दिया है, अपने द्वारा मचाई हुई तबाही को शान्ति का नाम देकर सम्मानित करना सीख लिया है।''[३१८]

यह 'मरघट की शान्ति' भी भारत में अंग्रेजी राज के अन्तिम दिनों में, १९४६-४७ में बिलकुल ही नष्ट हो गई थी, जो काल पूर्णतया अराजकता, अस्तव्यस्तता और खून-खराबे का था। अर्थात् दूसरे शब्दों में, भारतवर्ष में अंग्रेजी शासन का प्रारम्भ और अंत कानून-हीनता और 'बरबादी की शान्ति' जिसका उन्हें बहुत गर्व था, उसकी समाप्ति के साथ हुआ।

जनाधिक्य

भारत की बढ़ती गरीबी के लिए अंग्रेजों ने संसार के सामने भारत की 'प्रचुर जनसंख्या' को दोषी ठहराया। इस बहाने से उन्होंने अपने परजीवी ब्रिटेन के भरण-पोषण करने और उसे धनी बनाने के

लिए संसार के विशाल जनसमुदाय पर किए गए सहस्त्रों जुर्मो से पूर्णतः मुक्ति पाली ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार परजीवी इटली का भरण-पोषण करने के लिए प्राचीन काल में रोम ने किया था।[३१९] जनाधिक्य का यह तर्क गाड़ी के पीछे घोड़ा बांधने के समान है। स्वतंत्रता के बाद सन् १९५७ में एक अमेरिकी अर्थशास्त्री ने कहा, ''भारत की गरीबी का कारण न तो सघनता है और न ही बढ़ती जनसंख्या। बल्कि, गरीबी स्वयं वह कारण है जिससे भारत अपनी विशाल व निरंतर बढ़ती जनसंख्या का पालन करने में इतनी कठिनाई अनुभव करता है।''[३२०]

भारतीय इतिहास में जनसंख्या वृद्धि की दृष्टि से १९२१ के वर्ष को 'महाविभाजक' कहा जाता है।[३२१] १९२१ तक जनसंख्या वृद्धि की दर धीमी ही नहीं बल्कि पर्याप्त अनियमित भी रही। सन् १८७१ से लेकर १९२१ तक, जबकि पहली जनगणना उपलब्ध हुई, भारत की (पाकिस्तान और बंगला देश सहित) जनसंख्या १८.३ प्रतिशत बढ़ी।''[३२२] इसी अवधि में, यूरोप की जनसंख्या ४७ प्रतिशत बढ़ी। भारत में जनसंख्या की इस 'धीमी गति' का मुख्य कारण, बार-बार आने वाले अकालों और नाना बीमारियों तथा भयकर महामारियों के कारण बढ़ती मृत्युदर थी।

सन् १९२१ से परिवहन एवं संचार की दिशा में आई कुछ प्रगति सिंचाई में हुई कुछ बढ़ोतरी, और सार्वजनिक स्वास्थ्य व सफाई की स्थिति में हुए कुछ सुधारों के कारण चारों और छाये अकालों से (बंगाल में १९४२-४३ के सिवाय) कुछ राहत मिली। १९२१ से ५१ तक मृत्युदर अभी भी काफी अधिक थी, परन्तु १९२१ के पूर्व की जैसी असामान्य स्थिति नहीं थी। मलेरिया एवं हैजा देश में हुआ तो सही परन्तु उनसे मरने वालो की संख्या अब १९२१ से पूर्व की तरह

असामान्य नहीं थी परिणामस्वरूप १९२१ से १९५१ तक भारत की जनसंख्या में ४४ प्रतिशत वृद्धि हुई, जबकि इसी अवधि में विश्व की वृद्धि ३३ प्रतिशत थी; उत्तरी अमेरिका की ८५ प्रतिशत और यूरोपीय देशों की (एशियाई रूस को मिलाकर) वृद्धि २० प्रतिशत हुई।''[३२३] परन्तु, भारतवर्ष की गरीबी १९२१ से नहीं आरम्भ हुई। यह होती है स्वधीनता के पश्चात् १९५१ से जिस वर्ष को ''जनसंख्या वृद्धि की दृष्टि से १९२१ से भी अधिक तीव्र विभाजक''[३२४] माना जाता है। मृत्युदर में तीव्र कमी २९.४ से १८.०० प्रति सहस्त्र) आने के कारण जनसंख्या में असाधारण दर से बढ़ोतरी हुई जिसने पहले सारे रिकार्ड तोड़ दिए।

किंग्जले डेविस के अनुसार, सन् १८७१ से १९४१ तक भारत में जनसंख्या वृद्धि की औसत दर लगभग ०.६० प्रतिशत प्रतिवर्ष थी जो १८५० से १९४० तक समूचे विश्व की अनुमानित दर ०.६९ प्रतिशत से कम थी और जो यूरोप, उत्तरी अमेरिका तथा अन्य अनेक देशों से भी कम थी। सन् १८७१ से १९४१ तक भारत की कुल जनसंख्या में ५२ प्रतिशत वृद्धि हुई। ब्रिटिश द्वीप समूह में यह वृद्धि (इस काल में हुए भरकम उत्प्रवास को भी यदि न गिना जाए) ५७ प्रतिशत हुई, जापान में लगभग १२० प्रतिशत, और संयुक्त राज्य अमेरिका में २३० प्रतिशत वृद्धि हुई।[३२५] सन् १६०० से १९४० तक यूरोप की जनसंख्या में कुल वृद्धि भारत की अपेक्षा लगभग दुगुनी थी।''[३२६]

जनसंख्या की सघनता की दृष्टि से अंग्रेजी शासन में भारत की प्रति वर्गमील सघनता में वृद्धि संसार के अनेक देशों से कम थी, उदाहरणार्थ, सन् १८७१ से १९२१ तक भारत में प्रति वर्गमील जनसंख्या की वृद्धि ५.७ प्रतिशत थी जबकि इंग्लैंड और वेल्स में यह वृद्धि ६६.८

हुई।''[३२७] आज भी भारत में जनसंख्या इंग्लैंड, जापान, बेल्जियम, और इटली से कम है। जनसघनता की दृष्टि से भारत की गिनती मध्यम जनसघनता वाले देशों के साथ की जाती है।''[३२८]

प्रश्न यह है कि यूरोप, उत्तरी अमेरिका और जापान भारत की अपेक्षा काफी ऊँचे जीवन स्तर पर अपनी भारत से अधिक बढ़ती हुई जनसंख्या का कैसे निर्वाह कर सके? कारण यह था कि इन स्वतंत्र देशों की जनसंख्या में वृद्धि और आर्थिक विकास में वृद्धि एक-दूसरे को बढ़ावा देते हुए, साथ-साथ होती रहीं, जबकि ब्रिटिश शासन के दौरान भारत का आर्थिक ह्रास होता रहा।

एक अमेरिकी लेखन ने सन् १९४२ में लिखा, ''भारतीय निर्धनता का कारण जनसंख्या-वृद्धि नहीं है बल्कि यह वास्तविकता कि भारत के आर्थिक विकास में बलात् अवरोध का एक उदाहरण है। पाश्चात्य देशों में उद्योगों के विकास से जनसंख्या में तीव्र वृद्धि को प्रोत्साहन और उसके निर्वाह का साधन मिला। भारत में औद्योगिक विकास कृत्रिम तौर पर रोक दिया गया, और लोगो को बढ़ती मात्रा में कृषि उत्पादन के पुराने तरीको पर निर्भर रहने पर विवश होना पड़ा, जो (कृषि) भू-स्वामित्व और करों के बोझ से और भी जर्जर होने के कारण, उस पर की गई मांगों को पूरा करने में अधिकाधिक असमर्थ होती गई है।''[३२९]

आर्थिक विकास के अवरोध की ऐसी अवस्था में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों और उनके पिछलग्गुओं द्वारा दिया गया यह तर्क कि जनाधिक्य आर्थिक विकास में बाधा है, केवल एक निरा सफेद झूठ है।

भारत के आर्थिक विकास के लिए अंग्रेजी योजनाओं को कार्यरूप न देने के पीछे यदि भारत का जनाधिक्य कारण था तब लोगों की भलाई की इच्छुक किसी अन्य सरकार की भाँति अंग्रेज सरकार ने क्यों नहीं

ऐसे पग उठाए जैसे कि जन्म दर घटाने के लिए जन्म निरोधक चिकित्सालय इत्यादि; जिस प्रकार स्वतंत्र भारत की सरकार अब कर रही है? सरकार से जनसंख्या विस्तार पर नियंत्रण के लिए की गई प्रार्थना के बावजूद भी अंग्रेजों ने कुछ नहीं किया क्योंकि इसमें अंग्रेजों की कोई स्वार्थ सिद्धि नहीं होती थी। उदाहरणार्थ, सन् १९३८ में एक लेखक ने लिखा कि मद्रास की विधान परिषद ने ''सरकार से जन्म-निरोधक चिकित्सालय स्थापित करने की असफल प्रार्थना की। इस तरह से चिकित्सालय भारतीय राज्य मैसूर में सन् १९३० में स्थापित किये जा चुके थे।''[३३०]

क्या भारतीय किसान अन्य देशों के किसानों से अधिक रूढ़िवादी थे?

भारतीयों (विशेषकर भारतीय किसानों) के विरुद्ध एक और दोषारोपण किया गया कि वे बहुत रूढ़िवादी थे और परिवर्तनशील नहीं थे। एक अमेरिकी लेखन के शब्दों में ''यूरोपीयों, विशेषकर अमरीकियों, की यह सामान्य धारणा है कि सारे एशियाई लोग उनसे अधिक रूढ़िवादी और कम परिवर्तनशील हैं।''[३३१] अंग्रेजों ने हमें बतलाया कि उनके 'अनवरत' प्रयत्नों के बावजूद भी इसी रूढ़िवादी व पिछड़े' हुए दृष्टिकोण के कारण भारत की आर्थिक प्रगति नहीं हो रही। वही लेखक कहता है, ''हालांकि स्थितियां इतनी भिन्न हैं कि किसी निष्कर्ष पर पहुँचना असंभव है, फिर भी यह संभवतः असत्य है।''[३३२] ईस्ट इंडिया कम्पनी के एक विशिष्ट कर्मचारी मेजर जनरल सर ऐलैग्जैण्डर वॉकर ने सन् १८२० में भारतीय कृषि के संबंध में, जो उस समय तक फलती-फूलती दशा में थी, एक लेख लिखा। भारतीय कृषकों के बारे में उसने लिखाः

''साधारणतः भारतीय कृषक अपनी आवश्यकताओं से भली भांति परिचित होता है, और सामान्यः वह बुद्धिमान और विचारशील है। हर कहीं उसके वर्ग का यही चरित्र है। उसके काम करने के अपने ही मनपसंद तरीके हैं, क्योंकि वे सरल और लाभदायक हैं। परन्तु यदि उसे साधन और जानकारियां प्राप्त हों, तो वह उन्हें अपना लेगा बशर्ते कि वे उसके लाभ के लिए हों।...यदि उसको यह स्पष्ट हो जाए कि परिवर्तन से उसका कष्ट हलका हो जाएगा और फसल भी बेहतर होगी, तब वह उन्हें अपनायेगा। वे सदैव यूरोप के उन बीजों और जड़ों को प्राप्त करने के लिए आतुर रहे हैं, जो उनकी जलवायु के अनुकूल हैं, और उनकी खेती में नियमित रूप से काम आने वाले अनेकों बीजों को उन्होंने अपनाया भी है।''[३३३]

सन् १९२१ से १९२७ तक बम्बई में कृषि निदेशक, भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर बहुत-सी पुस्तकों के लेखक और भारत के एक सुविज्ञाता अंग्रेज अधिकारी डॉ. हैरल्ड मान ने भारतीय किसानों के विषय में लिखा, ''भारत के अनेक भागों में भारतीय कृषकों के साथ लम्बे अनुभव के बाद मेरा यह विचार है कि ग्रामीण वर्गो को स्वभावतः रूढ़िवादी समझना ठीक नहीं है। और संभवतः के वास्तव में पाश्चात्य देशों के किसानों के एक विशाल वर्ग की अपेक्षा परिवर्तन के विरोधी बहुत कम हैं।''[३३४]

अर्थव्यवस्था की अवनति और स्थिरता का कारण भारतीय कृषकों की कूपमंडूकता नहीं, अपितु मुख्यतः ''खेतीहरों के विशाल वर्ग के पास निरंतर पूंजी की अत्यन्त घोर कमी थी।''[३३५] इसका कारण था काश्तकारी और भू-राजस्व की अंग्रेजों की नीतियां, जिनको लागू करने के पीछे अंग्रेजों के दो प्रमुख उद्देश्य थे : (i) अपने पिटठू तैयार करना ताकि भारत वर्ष में अंग्रेजी राज को सुस्थिर किया जा सके; और (ii) भूमि से अधिक से अधिक मालगुजारी इकट्ठा करना।[३३६]

□□□

नौवां अध्याय
कुछ और प्रेक्षण

आय

भारत में अंग्रेज सरकार की आय के मुख्य साधन मालगुजारी और नमक तथा अफीम पर लगे कर थे। आयकर केवल १८८६ से लागू किया गया। कृषि को सहायता देने के बहाने महाजन भू-स्वामी और बागान-मालिकों को जिन सबका अस्तित्व ब्रिटेन के लाभ में था, करों से मुक्त किया गया। इसके अतिरिक्त आयकर की दरें इसलिए नहीं रखी जा सकती थीं, क्योंकि ऐसा करने से अधिकांशतः सैन्य व असैन्य अंग्रेज अधिकारियों पर ही आघात होता।

बहुसंख्यक भारतीयों के शाकाहारी भोजन एवं यहाँ की जलवायु के दृष्टिकोण से नमक स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक था और है। यही कारण था कि अंग्रेजी शासन के पूर्व लोगों को अपने निजी या व्यापारिक उद्देश्यों के लिए नमक बनाने की खुली छूट थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने नमक के उत्पादन और ब्रिकी पर एकाधिकार करके इस छूट को समाप्त कर दिया और करों में भी अतिशय विलक्षण वृद्धि कर दी। उदाहरणार्थ, ३ अप्रैल १७८९ में 'कलकत्ता गज़ट' के अनुसार १७८९ में ''जीवन की केवल एक आवश्यकता (नमक) से एक अतिविशाल धनराशि एकत्रित की गई...इंग्लैंड में नमक पर लगे कर की राशि औसतन २००,००० पौंड है, जोकि भारत से लगभग चौथाई है।''[३३७] उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त में चार्ल्स ग्रांट ने हिसाब लगाया कि बंगालवासियों को एकाधिकृत नमक का मूल्य उसकी लागत मूल्य से लगभग २८८ प्रतिशत अधिक देना पड़ता है। सन् १८४४ में उत्तर-पश्चिमी राज्य प्रान्त के लेफ्टीनेंट गवर्नर ने गवर्नर-

जनरल को लिखा कि नमक पर लगाये गये कर के कारण इसकी कीमतों में ३२०० प्रतिशत वृद्धि हुई। कम्पनी के प्रारम्भिक नियंत्रण-काल की तुलना में, सन् १८४४ में नमक से प्राप्त राजस्व में ३००० प्रतिशत की वृद्धि हुई थी अर्थात्, १००,००० पौंड से बढ़कर राजस्व लगभग ३२५,००० पौंड हो गया था। नमक व्यापार की अंग्रेजों की इस अनुचित नीति के बारे में, चार्ल्स ग्रांट लिखता है।

''जबकि ऐसे अत्याचार, ऐसे कि अफगान युद्ध, में किये गए हैं; जबकि सेनापतियों को, उन नागरिक कर्तव्यों के लिए जो कभी नहीं निभाये गए और न ही उन द्वारा निभाये जाने की कभी आशा की गई, कुछ ही वर्षों में पाँच-पाँच लाख पौंड जेब में डालने दिया गया; जबकि सरकारी अधिकारियों को वेतन बादशाही स्तर पर, अत्यन्त सुसंस्कृत और फलते-फूलते देशों से भी कहीं अधिक, दिये जाते हैं, और जबकि ब्रिटेन की सरकार और बहुत से व्यर्थ व्यय करती है- ऐसी स्थितियों मे निःसंदेह ऐसे कर को हटाना असंभव है, चाहे वह कितना ही अन्यायपूर्ण हो, और चाहे वह देश के उद्योग के लिए कितना ही घातक हो। लोगों द्वारा झेले गए कष्टों के वर्णन का प्रयत्न करना और सरकार के नमक विभाग के मातहतों द्वारा किए जा रहे दमनों, लूट-खसोट और डकैतीपूर्ण कृत्यों का वर्णन करना मुझे अपनी सीमाओं से बहुत परे ले जायेगा।''

जबकि निर्धनता बढ़ती जा रही थी और दुर्भिक्ष प्रचण्ड होते जा रहे थे, नमक तथा अन्य वस्तुओं पर कर बढ़ाये जा रहे थे। डब्ल्यू.सी.ब्लंट ने अनुमान लगाया कि सन् १८८३ तक नमक राजस्व बढ़कर ६० लाख पौंड हो गया था और नमक की कीमत अपने लागत मूल्य से १२०० से २००० प्रतिशत तक बढ़ चुकी थी। २६ नवम्बर, १८८३ को ब्लंट ने अपनी डायरी में लिखा, ''पुलिस को दिन हो या रात, घरों में घुसने

का अधिकार है, और उनके दोषारोपण पर कि वहां भूमि से निकाला गया थोड़ा-सा भी नमक है, मकान मालिक पर पन्द्रह रुपए जुर्माना या एक मास का कारावास हो सकता है। इस तरह के अनेक झूठे अभियोग लगाये जाते हैं और पुलिस द्वारा किसानों का दमन किया जाता है। यदि ग्रामवासी अपने पशुओं को चराने के लिए किसी ऐसे स्थान पर भेजते हैं जहाँ भूमि पर प्राकृतिक रूप से नमक पाया जाता है, तब मालिक पर जुर्माना लगाया जाता है या उसको कैद की सजा दी जाती है और नमक को ढेरियों में फेंक कर, जला दिया जाता है। नमक की कमी के कारण पशु मर रहे हैं और लोगों को बहुत कष्ट है।''

ब्लंट आगे कहता है, ''नमक कर का दमनकारी लक्षण...यह शिकायत का एक बहुत बड़ा विषय है।...दक्षिण में इसका दमन और भी क्रूर है, क्योंकि वहाँ की भूमि पर तो प्राकृतिक रूप से नमक पाया जाता है; किन्तु लोग इसके अभाव में भूखे रहते हैं यह देखते हुए भी कि नमक बहुतायत में उनकी आँखों के सामने विद्यमान है। गुजरते हुए बहुत से ग्रामों में मुझे किसानों ने बतलाया, कि वे अब अपने पशुओं को रात्रि में ऐसे स्थानों पर ले जाने तक के लिए भी विवश हो गए हैं, जहाँ नमक पाया जाता है ताकि वे चोरी-छिपे थोड़ा बहुत नमक चाट सकें। परन्तु यदि पहरेदार उनको इस प्रकार कानून तोड़ते हुए पकड़ लें तो उन पर टूट पड़ते हैं और हाल ही में पुलिस को यह आदेश दिये गए हैं कि वे भूमि के ऊपर प्राकृतिक रूप से पाये जाने वाले नमक को ढेरों में इकट्ठा करके नष्ट कर देवें मैंने सुनो है कि कुछ अन्य भागों में आहार की इस कमी के कारण लोगों में कोढ़ का प्रकोप फैला है, विशेषतया बम्बई के दक्षिण के समुद्र तटीय भागों में, रोग अधिक फैला हुआ बताया जाता है।''

सन् १९३६-३७ में नमक कर से कम से कम ६६ लाख पौंड आय हुई जो मालगुजारी का चौथाई भाग था। इस लम्बी दमन कथा का सार यह है कि इसके बावजूद भी, कि भूतपूर्व ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्जे मैक्डॉनल्ड ने नमक कर को एक अपहरण और दमन घोषित किया था, इस कर को १९४६ में आकर ही नेहरू की उपाध्यक्षता में अन्तरिम सरकार ने हटाया।[३३८]

अफीम और मद्य पर भी ब्रिटिश कम्पनी और भारत सरकार का एकाधिकार था! दुर्भिक्ष के दिनों में भी किसानों को भारी जुर्माना, उत्पीड़न और कोड़े लगा कर खाद्यान्न के स्थान पर पोस्त उगाने के लिए विवश किया जाता था। किसानों को पेशगी दी जाती और उन्हें सरकार द्वारा निश्चित की गई कीमतों पर अफीम की निर्धारित मात्रा सरकार को देनी पड़ती थी। फ्रीमैन कहता है, ''पेशगी लेने और अपनी भूमि के एक भाग में अफीम उगाने को विवश करने के लिए किसान को चपरासियों की टोली द्वारा अतीव पीड़ा दी जाती है।...अफीम उगाने वाले जिलों में मेरी विस्तृत भूमि रही है। मैंने किसानों पर जुल्म होते देखे हैं, और अपने आपको उत्पीड़न से बचाने के लिए किसानों को मेरी भूमि पर भी और यहाँ तक की मेरे घर के होते की भूमि पर भी, जिसको मैंने किसी और उद्देश्य के लिए उनको दिया था, अफीम उगाने पर विवश करते हुए देखा है।''[३३९]

इस प्रकार के बर्बर कृत्यों के पीछे अंग्रेजों द्वारा अत्यधिक लाभ कमाना था (अफीम का विक्रय मूल्य इसकी उत्पादन लगात से २०० प्रतिशत से भी अधिक था), जोकि भारतीयों को अफीम बेचकर एवं चीनियों और बर्मियों से अफीम का अवैध व्यापार करके अंग्रेज कमाते थे। इसके विरुद्ध भारतीयों ने कड़ा विरोध किया परन्तु कोई भी लाभ नहीं हुआ। उदाहरणार्थ, सन् १९२१ में केन्द्रीय विधान परिषद ने भारत

में अफीम उगाने या बेचने का निषेध करने के लिए एक प्रस्ताव पास किया, परन्तु अंग्रेजों ने इस पर अमल करने से इनकार कर दिया।''[३४०] अनेक विश्व अफीम सम्मेलनों में इंग्लैंड ने भारत में अफीम को त्यागने से इनकार किया,[३४१] यद्यपि इंग्लैंड में अफीम के मुक्त प्रयोग पर प्रतिबंध था। (ब्रिटिश कानून के अनुसार अफीम को 'जहर' कहा जाता था)। अंग्रेजों ने पूरे भारतवर्ष में खास-खास स्थानों पर अफीम और मदिरा की दुकानें खोलीं और ''इस धनलोलुप और अमानवीय नीति के विरुद्ध सारे हिन्दू-विरोधों को रद्द कर दिया। भारतीय जनता को अफीम बेचने की धुन में अनगिनित लोगों को सर्वनाश कर दिया गया।''[३४२] यह एक व्यापक रूप से सर्वमान्य तथ्य है कि ''भारत में अंग्रेजी शासन के दौरान मदिरापान और नशीली दवाओं का प्रयोग असामान्य रूप में बढ़ा।''[३४३]

भारत, इंग्लैंड और स्कॉटलैंड में आय और करों के सरकारी आंकड़ों की तुलना करने के बाद सन् १९००-०१ के बारे में वि. डिग्बी का निष्कर्ष था, जो निष्कर्ष भारत में अंग्रेजी शासन के आद्यंत लगभग सत्य रहा; कि ''आय के अनुपात में ब्रिटिश राज्य के भारतीय नागरिक पर स्कॉटलैंड निवासी की अपेक्षा चार गुने से भी अधिक और इंग्लैंड की अपेक्षा तीन गुने से अधिक कर लगाया जाता है।''

ऐसी सरकार को कोई क्या कहे, जो एक सर्वाधिक निर्धन देश के सर्वाधिक निर्धन व्यक्तियों द्वारा प्रयोग किये गए मिट्टी और पत्तों पर भी कर लगाती है? स्वाधीनता से केवल १३ वर्ष पहले हमें बताया जाता है कि, ''देश के निर्धनतम भागों में लोग इतने छितरे रहते हैं कि सरकार की समझ में नहीं आता कि किस वस्तु पर कर लगाये। अतः प्रशासन के वन-विभाग के अन्तर्गत मध्य भारत के ग्रामीणों की भैंसों

पर कर लगाया जाता है। केवल यहीं नहीं, अपनी झोंपड़ियों को साफ रखने के लिए सफेद मिट्टी के प्रयोग कर, और प्लेटों के अभाव में प्रयोग किए गए पत्तों पर भी कर लगाया जाता है।''[३४५]

व्यय

इन भारी-भरकम करों का प्रयोग नज़राना (जो १८५० के बाद गृह-शुल्क कहा गया) चुकाने, सेना, पुलिस और अन्य सरकारी सेवाओं के खर्चे करने और राष्ट्रीय ऋण को चुकाने में होता था।

इस बात का वर्णन हम पहले कर चुके हैं कि किस प्रकार ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी और उसके कर्मचारी भारत से विशाल धनराशि ऐंठकर अपने देश ले गये, जिसके कारण इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति सम्भव हो सकी। यह भी कहा जा चुका है कि किस तरह भारतीय राजस्व का एक बड़ा भाग अंग्रेज भारत में सामान खरीदने पर व्यय करते थे, जिसको वे अपनी जेब से एक खोटी दमड़ी भी खर्च किए बिना, यूरोप में बेचकर मनमाना पैसा कमाते थे। बदले में भारत को बहुत लम्बे समय तक न तो किसी प्रकार की सामग्री अथवा सोना-चाँदी, या सेवाएं ही प्राप्त हुई ओर भारत को जब कुछ मिला तो वह उसका जो उसने दिया था बहुत ही कम अंश था।

भारतीय सम्पदा के अवशोषण की यह प्रक्रिया अंग्रेजी राज के अन्त तक दिन पर दिन बढ़ती चली गई। इस नजराने या तथाकथित गृह-शुल्क पर एक सम्पूर्ण ग्रन्थ लिखा जा सकता है जिसको तो वास्तव में ब्रिटिश जजिया कहा जाना चाहिए। ये गृह-शुल्क ऐसे शुल्क थे जिनका भुगतान भारत को इंग्लैंड में अपने राजस्व से एवं अथवा आयात के मुकाबले में निर्यात की अधिकता से चुकाना पड़ता था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भारत की निर्यात, कमरतोड़ मालगुजारी और इंग्लैंड में गृह-शुल्क चुकाने के लिए मजबूरी के निर्यात थे। सन्

१८५७ के विद्रोह की बहुत थोड़ी-सी अवधि के अतिरिक्त भारत से इंग्लैंड को निर्यात सदा भारत को इंग्लैंड से आयातों की अपेक्षा अधिक थे। परन्तु भारत को लाभ नसीब नहीं हुआ। यह लाभ इंग्लैंड में भारत के तथाकथित गृह-शुल्कों की पूर्ति के मद में मान लिया जाता था।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एक विशिष्ट निदेशक कर्नल साईक्स ने (इंग्लैंड के) लोकसदन की प्रवर समिति के सम्मुख सन् १८४८ में इस 'नजराने' (उसी के यह शब्द है) का अनुमान ३३ से ३७ लाख पौंड प्रतिवर्ष अनुमान लगाया। और उसने यह सत्य ही कहा कि ''भारत इस नजराने का भुगतान आयातों से अधिक निर्यात द्वारा ही कर सकता है।''[३४६] जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि पौंड की गिरती क्रय-शक्ति को पूरा करने के लिए आज इन आंकड़ों को कम से कम सौ से गुण करना चाहिए।

ब्रिटिश उपनिवेशों के एक प्रख्यात इतिहासकर ने इसी समिति के आगे गृह-शुल्कों की अथवा १८१४-१५ से १८३७-३८ तक भारतीय राजस्व से इंग्लैंड में खर्च की गई राशि की, एक सूची प्रस्तुत की। इन गृह-शुल्कों का लगभग पाचवां भाग इंग्लैंड से भारत को भेजी जाने वाली सामग्री के लिए था। मौंट-गुमरी मार्टिन ने कहा, ''शेष राशि भारत के राजस्व पर पूर्णतः भार है, और जिसके लिए कभी भी भारत को किसी प्रकार प्रतिफल नहीं मिला,...यह प्रदर्शित करने के लिए एक अद्‌भुत हिसाब यह है कि पिछले तीस वर्षों में तीस लाख प्रतिवर्ष के हिसाब से अंग्रेजी-भारत से ली गई अनुमानित धनराशि १२ प्रतिशत चक्रवृद्धि ब्याज (भारतीय दर) के हिसाब से ७२३,९९७,९७१ पौंड बैठती है; अथवा यदि हम इसे पचास वर्षों में २० लाख प्रतिवर्ष के हिसाब से जोड़ें तो भारतवर्ष से आने वाली यह फलित पूंजी की राशि अविश्वसनीय ८४० करोड़ पौंड हो जाती है।''[३४७]

भारतवर्ष में एक प्रख्यात अंग्रेजी प्रशासन जॉन सलीवान ने, जो १८०४ से १८१४ तक भारत में अनेक उच्च पदों पर रहा, १८४८ में उसी समिति के सम्मुख साक्षी दी। उसने अंशतः कहाः ''उस (भारत) के अपने वंश के शासकों के राज्य में, देश में एकमित्र सारे के सारे राजस्व को देश के भीतर ही खर्च किया जाता था; परन्तु हमारे शासन में राजस्व का एक बड़ा भाग प्रतिवर्ष वहां से परिशोषित कर लिया जाता है, जिसके बदले में किसी प्रकार की कोई वस्तु नहीं दी जाती। पिछले साठ–सत्तर वर्षों से यह परिशोषण जारी है और घटने के स्थान पर बढ़ ही रहा है।...यह पद्धति लगभग एक स्पंज की भांति कार्य करती है जो गंगा के किनारों से प्रत्येक अच्छी वस्तु का अवशोषण कर थेम्स नदी के किनारों पर निचोड़ देती है।...उन करों को लगाने में भारत की जनता की कतई कोई आवाज नहीं है, जो उसे चुकाने के लिए कहा जाता है, न ही कोई कानून बनाने में उनकी आवाज है जिनका उन्हें पालन करना पड़ता है; और न ही उनका अपने देश के प्रशासन में किसी प्रकार का कोई वास्तविक भाग है। उन्हें इन अधिकारों से धृष्टतापूर्वक और अपमानजनक बहाने लगाकर वंचित कर दिया जाता है कि वे इस प्रकार की जिम्मेदारियों के लिए दिमागी और नैतिक तौर पर अयोग्य हैं।''[३४८]

१८३० के दशक में अंग्रेजी–भारत के योग्यतम सरकारी अधिकारियों में से एक एफ.जे.शोर था जिसने सन् १८३७ में दो खंडों में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'नोट्स ऑन इण्डियन अफेयर्स' में अपने भारतीय अनुभवों के विषय में लिखा हैः 'परन्तु भारत के उन्नत दिन अब समाप्त हो गये हैं, जो कभी उसकी सम्पदा थी उसका एक बहुत बड़ा भाग अवशोषित कर लिया गया। उसकी शक्ति कुशासन के क्रूर शिकंजों में जकड़ दी गई है और लाखों लोगों के हितों का मुट्‌ठीभर

लोगों के लाभ के लिए बलिदान कर दिया गया है।...अंग्रेजी शासन की छत्रछाया में धीरे-धीरे भुखमरी की ओर बढ़ रहीं भारतीय जनता और समूचे देश की दरिद्रता ने उन (पुराने व्यापारी राजघरानों) का पतन शीघ्रता से ला दिया है।''

''अंग्रेज सरकार की पीसने वाली लूट-खसोट ने लोगों और देश को ऐसी चरमसीमा तक दरिद्र व असहाय बना दिया है जिसका लगभग कोई मुकाबला नहीं है।''[३४९]

मेजर विनगेट ने, जो बम्बई सरकार में अनेक ऊँचे पदों पर रह चुका था, सन् १८५० में 'आवर फाइनेंशियल रिलेशंज विद इण्डिया' नामक पुस्तक में लिखता है : ''यह है उस नजराने का स्वरूप जिसे हम भारत से इतने लम्बे समय से ऐंठते रहे हैं।...इस व्याख्यान से भारतीयों पर नजराने के क्रूर दमानात्मक प्रभाव की एक हल्की-सी धारणा बनाई जा सकती है।...हम चाहे न्याय के पलड़े पर तोलें, चाहे हम अपने स्वार्थों की दृष्टि से देखें, भारतीय नजराना मानवता के, सामान्य बुद्धि के और राजनीति-शास्त्र के मानेगये सिद्धान्तों के विरुद्ध है।'' [३५०]

यह तो १८५७ से पूर्व घटित कहानी का केवल प्रारम्भ ही है। सन् १८५७ के बाद अंग्रेजों को दिए जाने वाले इस 'क्रूर' एवं 'दमनकारी' नजराने की मात्रा दिन दूनी रात चौगुनी दर से बढ़ती गई। सन् १८५७ में इसकी मात्रा ३५ लाख पौंड थी। और इसके लगभग चालीस वर्ष बाद, अंग्रेजों के प्रत्यक्ष शासनाधिकार में बढ़कर सन् १९००-०१ में १,७०,००००० पौंड हो गई, जिसमें वह रकम शामिल नहीं थी जो भारत में नियुक्त यूरोपीय अधिकारियों द्वारा विदेश भेजी जाती थी। विदेश भेजी जाने वाली इस रकम को भी यदि मिलायें तो भारत से अवशोषित

सम्पत्ति उसके असली राजस्व का लगभग आधी थी, जबकि इस काल में लोगों की आय में निश्चय की किसी प्रकार की वृद्धि नहीं हुई, बल्कि शायद ह्रास ही हुआ। इस वार्षिक नजराने का भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न अनुमान लगाया है। १८८६ में इंग्लैंड के एक नेता एच.एम.हिन्डमॅन में आंकड़ों का सारांश देने के बाद लिखा : ''इस प्रकार हमारे पास ३० करोड़ पौंड का मूल अंतर है और २० वर्षों में १२ करोड़ पौंड का अवशोषण है जो कुल मिलाकर ४२ करोड़ पौंड या २ करोड़ १० लाख पौंड प्रति वर्ष बनता है। यह प्रदर्शित करना अधिक सरल होगा कि वास्तविक अवशोषण इससे भी बहुत अधिक है।... भारत का निर्यात-व्यापार देश के अत्यधिक अशक्तकारी अवशोषण को चित्रित करता है।''[३५१]

जिस 'बेसब्री से अंग्रेज भारत का चरमतम शोषण कर रहे हैं', उसका वर्णन करने के बाद सन् १८८२ में ए.जे.विल्सन ने लिखाः ''मैं एक बार पुनः दोहराना चाहता हूँ कि हर प्रकार का खर्च-समस्त सार्वजनिक कार्यों का व्यय सारे गारण्टीकृत ब्याज और रेलवे के लाभांश, राज्य-ऋणों के ब्याज एवं राज्य के सिविल और सैनिक खर्चे-सारा का सारा बिना किसी कटौती अथवा कमी के निश्चित रूप से किसान देता है जैसे कि मानो देश से बाहर ले, जाई गई सम्पत्ति के प्राप्तकर्ताओं ने घर-घर जाकर एक-एक दमड़ी इकट्ठी की हो। इसके साथ वह हमारे उच्च पदाधिकारियों-गवर्नरों और गवर्नर-जनरल, सर्वोच्च परिषद के सदस्यों, जो जान-बूझकर मन्त्रणा करने का बहाना करते हैं, सेनापतियों और समूची सेना, न्यायधीशों और कलेक्टरों-को भारत में वेतन देने के अतिरिक्त, उनको अपने देश के बाहर ३ करोड़ पौंड प्रतिवर्ष से भी अधिक भेजना पड़ता है। और, इस सबके बदले

में उसे क्या मिलता है? आशावादियों की अपनी स्वीकृति के अनुसार भी भुखमरी और अकालग्रस्त मृत्यु...अंग्रेजों का भारत में आरंभ से लेकर अन्त तक का आचरण मूर्खताओं और अपराधों से पूर्ण है।[३५२]

एडिनबरो की यंग स्कॉट्स सोसायटी के सम्मुख ३१ अक्टूबर, १९०६ को विल्सन ने एक भाषण में कहा कि सन् १८८२ से लेकर अब तक अवशोषण कम से कम ३,०००,००० पौंड बढ़ गया है और सम्भवतया ५,०००,००० पौंड से ७,०००,००० पौंड से भी बढ़ा हो सकता है।'' विल्सन अवशोषण की साढ़े तीन करोड़ की रकम को बहुत कम बतलाता है। भारत और इंग्लैंड के लिए इसका क्या अर्थ है? ''...भारतीयों द्वारा दिये गए करों का अधिकांश भाग, जिसको हमारे अधिपति होने के नाते जीवनपर्यन्त प्रतिवर्ष देना पड़ता है, उनके ऊपर महाभार है जो उनको दरिद्र और हमें धनी बनाने वाला है।''[३५३]

सन् १८९० में हेनरी कॉटन ने भी भारतीय सम्पदा के अवशोषण को भारत की निर्धनता का एक कारण बताया। इस अवशोषण के बारे में वह लिखता है: ''यह एक संयत संगणन है कि भारत से ब्रिटेन को अवशोषित वार्षिक धनराशि कुल मिलाकर ३ करोड़ पौंड होती है।''[३५४]

सन् १९०१ में विलियम डिग्बी (ब्रिटेन के संसद-सदस्य) ने लिखा, ''शताब्दी के पिछले तीस वर्षों में औसत अवशोषण ३ करोड़ पौंड वार्षिक अथवा तीस वर्षों में बिना ब्याज के १०० करोड़ पौंड से कम नहीं हो सकता।''[३५५]

इस भारी आर्थिक अवशोषण का भारत और ब्रिटेन पर क्या प्रभाव पड़ा? डिग्बी उत्तर देता है: ''यदि हम अपने ही देश की १७६९ से १८०० तक और १८६९ से १९०० की अवधि के बीच एक बार पुनः तुलना करें तो हमें ज्ञात होता है कि इस अवधि में हमारा देश उस गति

से अधिक सम्पन्न होता गया जिस गति से भारत निर्धनताग्रस्त। 'निर्धनताग्रस्त?' नहीं-नहीं, इससे भी अधिक बुरा, दुर्भिक्षाग्रस्त। इस तुलना को और आगे ले जाएं तथा इस बात पर ध्यान दें कि भारत से इंग्लैंड द्वारा अवशोषित सम्पत्ति का, जिसके बदले में भारत को कुछ नहीं दिया जाता, भारत में अकाल की परिस्थितियां और इंग्लैंड में अद्‌भुत सम्पन्नता को लाने में कम योगदान नहीं है। वास्तव में, यही आर्थिक अवशोषण भारत की खेदजनक अवस्था का मुख्य कारण है।''[३४६]

अब हम उस राष्ट्रीय ऋण की चर्चा करेंगे जो गृह शुल्कों का केन्द्र-बिन्दु था और भारतीय सम्पत्ति के अवशोषण का एक बड़ा साधन था।

''भारत के राष्ट्रीय ऋण से तात्पर्य उस ऋण से था जिसे भारतीय जनता समग्र रूप में स्वयं को या इंग्लैंड का देनदार थी। भारत के राष्ट्रीय ऋण का अधिकांश भाग ब्रिटेन को देय था। उदाहणार्थ, सन् १८९० में कुल राष्ट्रीय ऋण का केवल १०० प्रतिशत भारत और ९० प्रतिशत ब्रिटेन को, देय था।''[३४७]

राष्ट्रीय ऋण स्वयं में कोई बुरा नहीं यदि इसका उपयोग लोक-कल्याण कार्यों के लिए किया जाता। परन्तु यदि इसका उपयोग अंशतः या पूर्णतः विदेशियों के हित के लिए किया गया, जैसा कि भारत के राष्ट्रीय ऋणों की वस्तुस्थिति थी तो उसका परिणाम अन्ततः दरिद्रता और अकालों के सिवाय कुछ भी नहीं होगा। ब्रिटिश पूर्व के भारत में कोई भी राष्ट्रीय ऋण नहीं था। हिन्दू और मुस्लिम राजाओं ने यदि कभी-कभार उधार लिया भी तो अपने स्वयं की साख पर लिया, न कि राज्य की साख पर, जैसा कि आधुनिक काल के पूर्व यूरोप में लिया जाता था।

किन्तु भारत के राष्ट्रीय ऋण की शुरुआत अंग्रेजी राज्य के साथ हुई। सन् १८३३ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का व्यापार पर एकाधिकार पूर्णतया समाप्त कर दिया गया; इसके बाद कम्पनी केवल एक प्रशासनिक निकाय थी। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि इसके भागीदारों को लाभांश देने बन्द कर दिये गए। कम्पनी के व्यावसायिक एकाधिकार को समाप्त करते समय ब्रिटेन सरकार ने नियम बनाया कि कम्पनी के हिस्सेदारों को भारतीय राजस्व अर्थात् भारतीय जनता पर लगाये गए करों में से १० प्रतिशत लाभांश मिलता रहेगा। इस प्रकार भारतीय जनता ने १८३३-५८ तक कम्पनी के अंग्रेज अंशधारियों को लाभांश रूप में १,५१,२०,००० पौंड दिए।''[३५८]

सन् १७९२ में राष्ट्रीय ऋण ७०,००,००० पौंड था जो १८३६ में बढ़कर ३,३०,००,००० पौंड हो गया। इसके मुख्य कारण कम्पनी द्वारा देश के भीतर व बाहर किये जाने वाले अभियानों पर खर्चे और देश से बाहर स्थापित कम्पनी के प्रतिष्ठानों पर किये जाने वाले खर्चे थे। दूसरे शब्दों में, भारतीय जनता को ऐसे ऋणों का बोझ उठाना पड़ा और उन पर ब्याज भी देना पड़ा, जिनसे अंग्रेज अपने व्यवसाय वाणिज्य और साम्राज्य के लिए भारत व अन्य देशों को जीत सकें।

इसके बाद अफगानिस्तान, वर्मा और पंजाब के ब्रिटिश साम्राज्यिक और व्यावसायिक हितों के लिए युद्ध किये गए। भारतीय ब्रिटिश सरकार को विदेशों के साथ युद्ध करने में ब्रिटिश सरकार की नीति का पालन करना पड़ता था। इसके बावजूद भी कि भारत की सरकार तक ने और कुछ उदार हृदय के अंग्रेज राजनेताओं ने इस बात का जोरदार प्रतिवाद किया, फिर भी इन महंगे युद्धों का खर्चा पूर्णतया केवल भारतीय करदाताओं को ही उठाना पड़ा।

ऋण का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण था– सर्वाधिक महंगा नागरिक एवं सैन्य प्रशासन जो लगभग पूर्णतया उच्चतम वेतन प्राप्त अंग्रेज पदाधिकारियों द्वारा ही चलाया जाता था जिसका वर्णन हम आगे करेंगे। इन युद्धों एवं अंग्रेज पदाधिकारियों पर इतने भारी फिजूल खर्चे करने के बाद भी अंग्रेजी के आरम्भ से सन् १८५८ तक भारतीय राजस्व भारतीय व्यय से अधिक ही था। एक प्रख्यात भारतीय अर्थशास्त्री, जिन्होंने अपना निर्णय सरकारी आंकड़ों के आधार पर दिया, कहते हैं, ''यदि भारत को अपने स्वामियों को किसी प्रकार का नजराना या गृह-शुल्क न देना पड़ता, तो १८५८ में ब्रिटिश ताज को सौंपने तक भारत पर राष्ट्रीय ऋण न होता, बल्कि उसके पक्ष में विशाल बकाया रोकड़ होता। कम्पनी के एक शताब्दी के शासन में सारे का सारा राष्ट्रीय ऋण इंग्लैंड में किये गए खर्चें को भारत के नाम लिखने के कारण निर्मित हुआ, जिसके लिए न्याय और औचित्य की दृष्टि से भारत को जिम्मेदार नहीं ठहराना चाहिए था।...ब्रिटेन ने गृह-शुल्कों से चित्रित किये जाने वाली राशि से नहीं अधिक लाभ भारत से उठाये थे; न्याय और औचित्य की दृष्टि से ब्रिटेन को वे शुल्क अदा करने थे; और नैतिक और संगत रूप से भारत को १८५८ में कोई राष्ट्रीय ऋण नहीं था, बल्कि उल्टे उसके खाते में अधिक अदायगी के कारण विशाल राशि जमा होनी चाहिये थी।''[३५९]

सन् १८३६ में भारत का राष्ट्रीय ऋण ३३० लाख पौंड था, जो १८५७ के तथाकथित 'विद्रोह' तक बढ़कर ५९० लाख पौंड हो गया। इस 'विद्रोह' के कारण भारतीय करदाताओं पर १ करोड़ पौंड से भी अधिक का बोझ लाद दिया गया। परिणामस्वरूप, ३० अप्रैल, १८५८ को भारत का कुल ऋण ६ करोड़ ९५ लाख पौंड तक पहुँच गया।''[३६०]

'विद्रोह' के दमन में कुल ४ करोड़ पौंड का खर्चा आया। इस खर्चे में ब्रिटिश सेना पर खर्च की गई वह राशि ही शामिल नहीं थी, जबकि वह सेना भारत में भी, अपितु भारत के लिए जलयात्रा करने से ६ मास पूर्व जब वह इंग्लैंड में ही थी।[३६१] इस सेना का प्रयोग उन लोगों के दमन के लिए किया गया जिन्होंने अंग्रेजों को उनका तथाकथित 'बोझ' दूर करने के लिए कहने का साहस किया था। ब्रिटेन ने कभी भी भारतीय सेनाओं के लिए एक पैसा तक भी नहीं दिया, जबकि भारतीय सेनाएं देश से बाहर ब्रिटेन के लिए लड़ती थीं। जब ब्रिटेन की सेनाएं भारतीय जनता को दबाने के लिए यहाँ आयीं, ब्रिटेन ने उनका कोई खर्चा नहीं उठाया, बल्कि भारत के लिए जहाज में रवाना होने से छः मास पहले से ही भारतीयों ने उनका खर्चा उठाया। तात्पर्य यह है कि भारतीयों को दोनों ही स्थितियों में अंग्रेजों को भुगतान करना पड़ा।

'विद्रोह' के बाद ब्रिटिश सरकार ने कम्पनी को एक करोड़, बीस लाख में खरीदकर भारत का प्रशासन प्रत्यक्षतः अपने हाथ में ले किया। इस क्रय मूल्य को ब्रिटिश करदाताओं ने नहीं, बल्कि भारतीय करदाताओं ने कम्पनी को दिया। अंग्रेजों द्वारा भारत को खदीदने के लिए, भारत ने ही अंग्रेजों को अपना धन दिया। केवल इतना ही नहीं भारत ने ब्रिटिश सरकार के उन ऋणों को भी चुकाया, जो उसने कम्पनी से उधार लिए थे, क्योंकि सन् १७६९ के अधिनियम के अधीन कम्पनी को ४ लाख पौंड वार्षिक धनराशि ब्याज पर ब्रिटिश सरकार को देनी होती थी।[३६२]

यह वार्ता यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती। ब्रिटेन या बाकी संसार में कहीं भी कम्पनी द्वारा लिखे गए सभी ऋणों, इकरारनामों और ऋणपत्रों को 'केवल भारत के राजस्व से ही आदेय' करार किया गया। इन भारी और अनुचित ऋणों को अदा करने के लिए अंग्रेजों द्वारा

मुख्यतः अंग्रेजों से ही उधार लिया गया था जिस पर अब केवल भारतीयों की जेबों से ही अंग्रेजों को ब्याज चुकाया जाना था। यह कैसा न्याय था और कैसी नैतिकता?

परिणामस्वरूप, प्रत्यक्ष अंग्रेजी राज्य के केवल बारह वर्षों में (१८५८ से १८७०-७१) में ही भारत का राष्ट्रीय ऋण ६ करोड़ ९५ लाख पौंड से बढ़कर २९९ करोड़ ९० लाख पौंड से भी अधिक हो गया, हालांकि इस अवधि में करों में ५० प्रतिशत से अधिक वृद्धि हुई। १८७६-७७ में यह ऋण १३ करोड़ ९० लाख तक पहुँच गया। इसका अर्थ यह है कि १९ वर्षों में ही ब्रिटिश सरकार ने भारत का राष्ट्रीय ऋण दुगुना कर दिया। १३ करोड़ ९० लाख पौंड से केवल २ करोड़ ४० लाख पौंड राजकीय रेलवे तथा सिंचाई विभाग पर खर्च किया गया, जो मुख्य रूप से ब्रिटेन के ही लाभ के लिए आरम्भ किये गए थे।

ये आंकड़े निर्बाध गति से निरंतर बढ़ते ही चले गए-यहाँ तक कि द्वितीय विश्वयुद्ध की पूर्व संध्या के समय १९३९ में ८८ करोड़ ४२ लाख पौंड तक पहुँच गए, जो १८५८ की राशि की अपेक्षा १२ गुना से भी अधिक थे। इसके बावजूद जनता के ऊपर करों का भार भी बढ़ता ही चला गया। विशेषतया महत्त्वपूर्ण था इंग्लैंड के ऋण में अत्यधिक वृद्धि, जिसके लिए ब्याज भी ऊँची दर से चुकाना था। १८५६ में इंग्लैंड का ऋण ४० लाख पौंड था जो ऊँची छलांग लगाकर १९३९ में ३५ करोड़ १८ लाख पौंड तक पहुँच गया था।

करों एवं राष्ट्रीय ऋण की इस वृद्धि को अंशतः समझा जा सकता है कि यदि हम उस भारी-भरकम खर्चे की ओर झांकते हैं जो भारत के शोषणार्थ भारतीय सिविल तथा सैन्य व्यवस्था पर किये जाते थे।

सर वैलेन्टाइन शिरोल ने १९२६ में लिखा : ''भारतीय करदाता द्वारा वहन किये जाने वाले भारों में सैन्य व्यय का भार स्वयं में ही सर्वाधिक कमरतोड़ है। जिस करदाता के पास...न तो इस खर्चे की राशि को और न ही इसके उद्देश्य को नियंत्रित करने का कोई साधन है।''[३६३]

ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में इतिहास के 'बेट' प्राध्यापक प्रो.डी.के. फील्डहाउस के अनुसार सन् १८९१-९२ में भारतीय थलसेना पर व्यय कुल भारतीय राजस्व का ४२ प्रतिशत, १९११-१२ में ३६ प्रतिशत और १९२९-३० में ३१ प्रतिशत था। (१८९१-९२ से पहले यह ५० प्रतिशत से भी अधिक था) इसके विपरीत तुलनार्थ इतने वृहद साम्राज्य के स्वामी इंग्लैंड ने १८९० में अपने समूचे बजट का ३८ प्रतिशत तथा १९२० में केवल १४ प्रतिशत प्रतिरक्षा पर व्यय किया।''[३६४]

ऑर्नल्ड टायनबी के अनुसार १९२९ (शान्तिवर्ष) में विभिन्न देशों के राष्ट्रीय बजटों में सैन्य व्यय के प्रतिशत इस प्रकार थे: भारत-४५.२९, जापान-२६.५७, इटली-२३.४६, फ्रांस-१९.७५, अमेरिका-१६.०९, इंग्लैंड-१४.७५, और जर्मनी (हिटलर से पूर्व) ७.१६।''[३६५]

भारतवर्ष में दो तरह की सेनाएं थीं। पहली थी ब्रिटिश सेना जिसमें पूर्णतया अंग्रेज सैनिक ही थे जिनका मुख्य कर्तव्य ''भारतीयों द्वारा अंग्रेजी राज को उखाड़ कर फेंकने के लिए किसी भी प्रकार के प्रयत्न का दमन करना था।''[३६६] दूसरी सेना-भारतीय सेना के नाम से जानी जाती थी जिसका मुख्य कर्तव्य अंग्रेजों के लिए गैरों से इस 'सबसे चमकदार हीरे' (अर्थात् भारत) की रक्षा करना था और देश से बाहर जाकर दूसरों को दास बनाना था और यह भी अंग्रेजों के ही लिए। भारत तो केवल दोनों ही सेनाओं के लिए युद्धबलि अथवा तोपों का आहार और विशाल धन जुटाने के लिए था।

तथाकथित 'भारतीय सेना' में सैनिक तो भारतीय थे परन्तु अधिकांश अधिकारी अंग्रेज थे। **भारतीयों को प्लाटून-कमाण्डर से बड़े पदों पर शायद ही कभी अधिकारी बनाया जाता था, और अंग्रेजी राज की समाप्ति (१९४७) तक कोई भी भारतीय बिग्रेडियर के पद से ऊपर नियुक्त नहीं किया गया।**[३६७] द्वितीय विश्वयुद्ध में भी, जबकि अंग्रेज अधिकारियों की कमी थी, केवल तीन भारतीयों को ब्रिगेड़ों को नायकत्व दिया गया जबकि भारतीय सेना २० लाख लोगों की थी।''[३६८] इन दोनों सेनाओं का आर्थिक भार पूर्णरूपेण भारतीयों पर ही था। अधिकारियों (लगभग सारे के सारे अंग्रेजों) के वेतन उस समय से सबसे धनी देश इंग्लैंड की तुलना में भी बहुत अधिक थे।[३६८अ]

इंग्लैंड के लिए भारतीय थल सेना का क्या महत्व था? फील्डहाउस इस प्रश्न का उत्तर देता है : ''थल सेना का महत्त्व १९वीं, शताब्दी में ब्रिटेन की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को ध्यान में रखकर समझा जा सकता है। ब्रिटेन सर्वोच्च नौसैनिक शक्ति था, परन्तु थल सेना की दृष्टि से उसका महत्व नगण्य था और विश्वव्यापी साम्राज्य की प्रतिरक्षा का भार उसकी लगभग ढाई लाख नियमित सेना के कन्धों पर था। भारत की लगभग डेढ़ लाख स्थल सेना-शक्ति ने, जो युद्ध के समय तत्काल ही बढ़ाई जा सकती थी, उसे पूर्व में सर्वोच्च क्षेत्रीय शक्ति बना दिया था। ब्रिटेन के लिए यह एक विशुद्ध लाभ था क्योंकि इसके खर्चे का समूचा भार भारतीय, राजस्व पर ही था। इसके विपरीत तुलना में, १८८० के बाद स्वशासित उपनिवेशों द्वारा अदना-सी देन भी, जिसकी साम्राज्यवादियों को आशा हो सकती थी, महत्त्वहीन सिद्ध होती है। भारत ने ब्रिटेन को विश्व घटनाक्रम में भाग लेने के लिए समर्थन बनाया जिसके लिए ब्रिटिश करदाता पैसा देने के लिए कदापि तैयार

नहीं था। पूर्वी अफ्रीका और दक्षिण-पूर्वी एशिया के विभाजन में मुख्य भाग लेने और प्रथम विश्वयुद्ध में ऑटोमन साम्राज्य के बड़े भाग पर विजय प्राप्त करने में समर्थ भी भारत ने ही ब्रिटेन को बनाया।''[३६९]

भारत ने न केवल दोनों सेनाओं अपितु ब्रिटिश नौसेना का भी भारी खर्चा उठाया, इस बहाने पर कि वह भारत के व्यापार एवं समुद्र तटों की रक्षा करती थी। 'तटों की रक्षा' का तर्क ठीक उन डाकुओं द्वारा दिये गए तर्क के समान है जो उस घर के द्वारा की रक्षा करते हैं जहां वे अपना जघन्य कार्य कर रहे होते हैं। ठीक इसी प्रकार का तर्क, कि इंग्लैंड १३ उपनिवेशों (बाद में संयुक्त राज्य अमेरिका) की रक्षा करता है, अमरीकी क्रान्ति के समय दिया गया। थॉमस पेन द्वारा दिया गया उस तर्क का उत्तर भारत पर भी लागू हो सकता है। पेन ने कहा : ''ब्रिटेन ने हमारी हमारे लिए हमारे शत्रुओं से रक्षा नहीं की, अपितु अपने लिए अपने शत्रुओं से रक्षा की, जबकि हमारा उनके साथ किसी और कारण से कोई झगड़ा नहीं था, और जो हमारे उसी कारण से सदा के लिए शत्रु बने रहेंगे।'' [३७०]

भारतीय व्यापार के बारे में भारत सरकार के एक सेवानिवृत्त अधिकारी जे.एस.कॉटन ने, जो सरकारी 'इम्पीरियल गजेटियर' के सम्पादक भी थे, कहा: ''देहाती बाजारों तक में भी भारतीय निर्यात व्यापार मुख्यतः कुछेक यूरोपीय फर्मों के हाथों में है, जो आढ़तियों के माध्यम से खरीददारी करते हैं, और बन्दगाहों पर जहाजरानी का लगभग सारे का सारा व्यापार यूरोपीय फर्मों द्वारा किया जाता है, जिनकी भारतीय व्यापारी रेलों द्वारा सामान भेजते हैं। आयात व्यापार भी मुख्यतः यूरोपियों के हाथों में ही हैं।''[३७१]

सरल शब्दों में, अंग्रेजों के लाभ के लिए अंग्रेजों द्वारा अंग्रेजी जहाजों में अंग्रेजी फर्मों द्वारा बीमाकृत और अंग्रेजों द्वारा वित्तीय विदेशी

व्यापार का सरंक्षण अंग्रेजी नौसेना द्वारा किया जाता था; भारत तो केवल बिल का भुगतान करता था, ठीक उसी प्रकार जिस तरह से वह थल सेना के लिए भुगतता था।

नागरिक सेवाएं भी, जो ब्रिटेन के स्वार्थों की पूर्ति के लिए ही थीं, और जो पूर्णतः या मुख्यतः अंग्रेज अधिकारियों द्वारा चलाई जाती थीं, एक और भारी खर्चे का कारण थीं। कम्पनी की प्रसंवदित (उच्च) सेवाओं में तो एक भी भारतीय नहीं था[३७२] यद्यपि निम्न स्तर के कार्यों के लिए अंग्रेजों को आवश्यकतावश भारतीयों को भर्ती करना पड़ा। सन् १९१५ तक केवल ५ प्रतिशत भारतीय प्रसंवदित (आई.सी.एस.) सेवाओं में नियुक्त किये गए थे।[३७३] बीसवीं शताब्दी में जब राष्ट्रवादियों के दबाव और अंग्रेजों की आई.सी.एस. में भर्ती की बढ़ती कठिनाइयों के कारण अंग्रेजों को ''अच्छी नौकरियां, अच्छे भविष्य के लिए वेतन का लालच देकर असंतोष को खरीदना पड़ा;[३७४] और **आई.सी.एस.की परीक्षा १९२२ से भारत में भी आरम्भ करनी पड़ी (इससे पहले यह केवल इंग्लैंड में ही होती थी)।** परिणामतः भारतीयों को आई.सी.एस.की नौकरियां अधिकाधिक मिलने लगीं, यद्यपि भारतीय नागरिक (सेना छोड़कर) सेवाओं का 'भारतीयकरण' स्वाधीनता के केवल १२ वर्ष पूर्व अर्थात् सन् १९३५ से होता दिखाई पड़ता है। परन्तु इन थोड़े से भारतीय अधिकारियों ने अंग्रेजों की मूल व महत्त्वपूर्ण नीतियों को किसी प्रकार भी प्रभावित नहीं किया, बल्कि ये तो भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवाद के एक और एजेंट, पिट्ठू व आधारस्तम्भ ही साबित हुए।

बहुत कुछ अनाप-शनाप कहा जाता है कि ये आई.सी.एस.ब्रिटेन के बुद्धिजीवी वर्ग का सर्वोत्तम अंश थे। अतः भारत के प्रशासन (या लूट?) के लिए ब्रिटेन ने स्वयं को इन बुद्धिजीवियों से वंचित करके

दुर्बल बनाया। सत्य तो यह है कि ''प्रतियोगिता पद्धति के आरम्भ करने के केवल चार वर्ष बाद १८५८ में सिविल सेवा आयुक्तों ने सिविल सेवा रंगरूटों की योग्यता के प्रति असंतोष प्रकट किया। (१९वीं शताब्दी के परावर्तीय काल में) काफी प्रतियोगियो ने किसी भी विश्वविद्यालय से शिक्षा ग्रहण नहीं की थी जो तत्ववाद में बाद की प्रतियोगिताओं में अधिकाधिक स्पष्ट होने लगा। किसी भी प्रकार की भारतीय सेवा चाहे वह असैनिकों द्वारा भरे गये उच्चतम पदों की ही क्यों न हो, व्यापक रूप से मध्य स्तर के नागरिकों और घटिया दर्जे की बुद्धि के लोगों के लिए समझी जाती थी।''[३७५]

यदि किसी भी निर्धन देश के सरकारी कर्मचारियों का उद्देश्य लूटना और खून चूसना न हो तो उन्हें धनी देश के सरकारी कर्मचारियों की अपेक्षा कम वेतन मिलेगा। परन्तु भारत के मामले में ऐसा नहीं था; उच्च पदाधिकारियों को तो बहुत अधिक वेतन दिये जाते थे, जबकि भारतीयों द्वारा पूर्व श्रेणी की सेवाओं के लिए बेहद कंजूसी से वेतन दिए जाते थे।

सबसे निर्धन देश (भारत) के आई.सी.एस. अधिकारियों के वेतन एवं पेंशन उस समय के सबसे धनी देश ब्रिटेन के ''सरकारी अधिकारियों की अपेक्षा लगभग ५० प्रतिशत अधिक थे।'' यही नहीं, उनको कई विशेषाधिकार भी प्राप्त थे जैसे कि एक वर्ष की सेवा के बाद पूर्ण वेतन सहित ढाई मास एवं अर्द्धवेतन सहित पाँच मास का अवकाश और भारत से ब्रिटेन तक सपरिवार आने-जाने का पूरा खर्चा भी मिलता था।''[३७६] इन आई.सी.एस. अधिकारियों की शानदार पेंशनों का अनुमान केवल इस बात से ही लगाया जा सकता है कि केवल एक अंग्रेज अधिकारी स्ट्राची की पेंशन मद्रास के १२०० कृषकों की वार्षिक आय के बराबर थी।''[३७७] अतः, इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इन अंग्रेज

नवाबों में से बहुत से (५० प्रतिशत) अपनी आयु के चालीसवें वर्ष में ही ऐसी राजसी पेंशनें लेकर सेवानिवृत्त हो जाते थे।[३७८] सन् १९३८ में एक अमेरिकी लेखक ने लिखा, कि भारत के समस्त ११०७ आई.सी.एस. असैनिक अधिकारियों का कुल खर्चा लगभग ढाई करोड़ रुपये (२५००००० डालर) प्रतिवर्ष है जो समूचे बजट का लगभग १.२५ प्रतिशत है। इसके विपरीत कृषि पर, जिस पर लगभग ३० करोड़ लोग निर्भर हैं, १½ प्रतिशत से भी कम खर्चा किया जाता है।''[३७९]

तथापित, इन आंकड़ों में बाइसराय और (ब्रिटेन के) (राज्य अथवा) विदेशमंत्री एवं उसके कर्मचारियों के शानदार वेतन और महान सुविधाओं का खर्चा शमिल नहीं है; यद्यपि विदेशमन्त्री का वेतन ब्रिटिश मंत्रिमंडल का सदस्य होने के नाते अंग्रेजी करदाताओं द्वारा दिया जाना चाहिये था। ''संसार के सबसे अधिक शक्ति शाली व्यक्ति'' और भारत के निकटवर्ती तानाशाह (ब्रिटेन का विदेशमंत्री भारत का दूरवर्ती तानाशाह था) वायसराय का वेतन ''किसी भी ब्रिटिश पदाधिकारी से अधिक था। रोमन साम्राज्य के बाद से, जबकि जनसंख्या वैसे ही बहुत थोड़ी होती थी, ऐसे (भारत जैसे) राज्यपाल का वैभवशाली पद किसी भी सरकार को उपहार के रूप में नहीं मिला था।''[३७०]

महात्मा गांधी ने सन् १९३० में कठोर नमक कर के विरुद्ध राष्ट्रव्यापी शांतिपूर्ण आंदोलन आरम्भ करते समय भारत के तत्कालीन वायसराय को एक पत्र यह इंगित करते हुए लिखा कि, ''भारतीय प्रशासन सारे विश्व में दिखाने योग्य, सर्वाधिक खर्चीला है।'' गांधी जी ने लिखा : ''आप अपने वेतन को ही लीजिए। वर्तमान विनिमय दर के अनुसार आपका वेतन २१.००० रुपये मासिक से भी अधिक है।

आपको दैनिक ७०० रुपये से अधिक मिलते हैं, जबकि भारत की औसत आय २ आने (१६ आने=१रुपया) प्रतिदिन से भी कम है। (ब्रिटेन के) प्रधानमंत्री को केवल १८० रुपये प्रतिदिन मिलते हैं, जबकि वहां की औसत आय २ रुपए प्रतिदिन है। जो बात वायसराय के वेतन के विषय में है वही संपूर्ण प्रशासन के सम्बन्ध में भी सत्य है।''[३८१]

शेरे-ए-पंजाब के नाम से विख्यात, भारत के एक अन्य महान् नेता लाला लाजपतराय ने १९१७ में भारत, जापान और अमेरिका के प्रशासनों के खर्चे की तुलना करते हुए लिखाः

''अमेरिका के राष्ट्रपति का, जिसकी हैसियत संसार के बड़े सम्राटों जैसी है, वार्षिक वेतन बिना किसी भत्ते के ७५,००० डालर है। जापान का प्रधानमंत्री १२,००० येन या ६००० डालर पाता है। भारत का वायसराय और गवर्नर-जनरल अनेकों भत्तों के रूप में बहुत बड़ी राशि प्राप्त करने के अलावा २,५०,००० रुपये या ८३,००० डालर वेतन लेता है। अमरीका के प्रत्येक मंत्री का वेतन १२,००० डालर है, जापान में ८००० येन अथवा ४००० डालर है और वायसराय की परिषद के प्रत्येक सदस्य का वेतन २६,७०० डालर है।''[३८२]

लाला लाजपतराय ने अपनी पुस्तक 'इंग्लैंड का भारत के प्रति ऋण ' के परिशिष्ट में इन तीनों देशों के अनेक पदाधिकारियों के वेतनों की तुलना करके उनकी आय में आश्चर्यजनक अन्तर दिखाया है। यह पुस्तक १९१७ में अमेरिका में प्रकाशित हुई थी। भारत की अंग्रेज सरकार ने इसके भारत प्रवेश पर प्रतिबंध लगा दिया।

भारत को केवल इस महाभरकम प्रशासन का ही खर्चा नहीं उठाना पड़ता था, अपितु किसी भी कल्पनीय खर्चे को उठाना पड़ता था जिसका सम्बन्ध किसी भी तरह से भारत से जोड़ा जा सकता हो।

प्रोफेसर एल.एच.जेंक्स ने १९२७ में लिखाः

‘‘(ब्रिटेन द्वारा) हर प्रकार के खर्चे को भारत के मत्थे मढ़ देना बेहद अनुचित लगता है। १८५७ के विद्रोह का खर्चा, ब्रिटिश ताज द्वारा कम्पनी की खरीदने का खर्चा, चीन और अबीसीनिया के साथ-साथ हो रहे युद्धों के खर्चे, लन्दन में हर प्रकार के सरकारी खर्चे जो दूरदराज भी भारत के साथ जोड़े जा सकते हों, जैसे कि भारतीय कार्यालय में झाड़ू देने वाली नौकरियों के खर्चे ओर उन जहाजों के खर्चे जिन्होंने (भारत के लिए) प्रस्थान तो किया परन्तु लड़ाई में भाग नहीं लिया तथा भारत को प्रस्थान करने के छः मास पहले से सैनिकों के प्रशिक्षण के खर्चे-यह सारे के सारे प्रतिनिधित्वहीन (भारतीय) किसान को देने पड़े। सन् १८६८ में तुर्की के सुलतान ने लन्दन की सरकारी यात्रा की, जिसके स्वागत में सरकारी नृत्य का आयोजन भारतीय कार्यालय पर किया गया और जिसका बिल भी भारत को ही भुगताना पड़ा ईलिंग में पागलखाने का खर्चा, जंजीबार मिशन के सदस्यों को दिये जाने वाले उपहारों के खर्चे, चीन और पर्शिया (ईरान) में ब्रिटेन के वाणिज्यिक एवं राजनयिक संस्थानों के खर्चे, भूमध्यसागरीय बेड़े के स्थायी व्यय के अंशतः खर्चे और इंग्लैंड से भारत तक तार-लाइन लगाने का सम्पूर्ण खर्चा-ये सब सन् १८७० से पहले भारतीय कोष से ही चुकाए गये यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि ब्रिटिश ताज के अधीन पहले तेरह वर्ष के प्रशासन में भारतीय राजस्व (अर्थात् कर) ३ करोड़ ३० लाख पौंड से बढ़कर ५ करोड़ २० लाख पौंड प्रतिवर्ष हो गया, और १८६६ से १८७० तक घाटा १ करोड़ पन्द्रह लाख पौंड तक जा पहुँचा। सन् १८५७ और १८६० के बीच ३ करोड़ का गृह-ऋण स्थापित कर दिया गया, जो बराबर बढ़ता

ही गया जबकि भारतीय लेखाओं में विवेकपूर्ण हेरा-फेरी के माध्यम से मितव्ययिता एवं वित्तीय चतुराई के लिए अंग्रेज राजनयिकों ने ख्याति अर्जित की।''[३८३]

भारत को लूटने के उद्देश्य से और बहुत से छोटे-मोटे खर्चे किये गए। यहाँ केवल एक उदाहरण दिया जाता है, यद्यपि ऐसे उदाहरण लगभग अपरिमित है।''[३८४] जहाँ गैर-ईसाइयों के देश को उनके शासकों के मजहब (अर्थात ऐंग्लीकन चर्च व स्काटलैंड के चर्च) की सहायता के लिए कर देने पड़ते थे, अंग्रेजी राज्य के दौरान एक लम्बी अवधि तक बड़े पादरियों (बिशपों) और (ईसाई) पुरोहितों को वेतन भारतीय लोगों के करों से दिये जाते थे, जो सब प्रकार के ऐशो-आराम का जीवन बिताते थे और पूरे ठाट-बाट के साथ शानदार भवनों में रहते थे। सन् १९३७ में आर.रेनाल्ड बताते हैं कि २ लाख पौंड की वार्षिक राशि ईसाई धर्म की सहायता के लिए भारतीय राजस्व में से अब भी चुकाई जाती है..जो भारतवासियों की ओर से अपनी विजेताओं के प्रमुख धार्मिक संस्थापनों को दिया जाने वाला तुच्छ-सा नजराना है।''[३८५] सन् १९०९ के आस-पास, कलकत्ता और बम्बई के बड़े पादरियों की और गर्वनर-जनरल की परिषद के एक सदस्य की केवल तैयारी और विदेश गमन के लिए क्रमशः २४५० पौंड तथा १२०० पौंड की राशियां ब्रिटेन द्वारा भारत को दिये गए ऋण में से भुगतान की गई,[३८६] जिस पर भारत को ब्याज भी देना पड़ा।

इस प्रकार, भारतीय जनता द्वारा दिये जाने वाले लगभग सारे ही भारी कर किसी न किसी बहाने से जनता को लूटने के उद्देश्य से ही व्यय किये जाते थे। जनता के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक और अन्य किसी भी प्रकार के विकास के लिए, जिनके लिए सरकारों

के अस्तित्व की कल्पना तथा औचित्य होता है, लगभग कुछ भी नहीं बन पाता था। उदाहरण के लिए शिक्षा को लीजिए। सन् १८९० में ''सरकार के कोष से भारत में प्राथमिक शिक्षा पर कुल खर्चा इस समय २ लाख पौड से अधिक नहीं है। निशुल्क शिक्षा तो दूर रही है अभी तक यह भी अनिवार्य नहीं है। स्कूल जाने योग्य लड़को की १/६ संख्या से अधिक लड़के स्कूल नहीं जा पा रहे है और ५ गाँवों के बीच एक ही पाठशाला है।''[३८७]

लगभग ३० करोड़ जनसंख्या (उस समय) वाले देश में यह २ लाख पौंड का शिक्षा-व्यय भारत के केवल मुट्ठीभर शीर्षस्थ अंग्रेज पदाधिकारियों के वेतनों के बराबर होगा।

यह उस देश में था, जिस देश में अंग्रेजी शासन के पहले सारे निष्पक्ष विद्वानों के अनुसार, ''प्रत्येक गाँव से कम से कम एक प्राथमिक पाठशाला अवश्य थी।'' ब्रिटेन की इन्डीपैण्डेंट लेबर पार्टी के नेता, जो वर्तमान ब्रिटिश लेबर पार्टी की अग्रवर्ती थी, और ब्रिटिश संसद के सदस्य जे.केर.हार्डी ने सन् १९०९ में लिखाः

''यह डींग भी अक्सर सुनने को मिलती है कि हमने भारत में शिक्षा के लिए क्या-क्या किया। यहाँ पर भी, जहाँ तक भारत के प्राचीन प्रांतों का समबन्ध है, यह डींग बिलकुल बेबुनियाद है। देशी राज्यों सहित सम्पूर्ण भारत में स्कूल जाने वाले बच्चों की कुल संख्या लगभग ५० लाख होगी। और भारत सरकार द्वारा शिक्षा पर व्यय केवल लगभग १½ पैन्स (१२ पैन्स=१ शिलिंग और २० शिलिंग=एक पौंड) प्रति बालक पड़ता है। प्रसंगवश यह मैं कह दूँ कि कुल जनसंख्या के प्रति व्यक्ति पर सेना का खर्चा औसतन एक शिलिंग है। अंग्रेज प्रभुत्व से पहले बंगाल में शिक्षा के विषय में एक ईसाई धर्मप्रचारक की रिपोर्ट

के, तथा सरकारी दस्तावेजों के, आधार पर मैक्समूलर का दावा है कि ''बंगाल में उस समय ८०,००० अर्थात् ४०० की जनसंख्या के लिए एक, स्थानीय पाठशाला थी।'' अपने 'अंग्रेजी भारत का इतिहास' में लुडलॉक कहता है, ''मुझे विश्वास दिलाया गया है कि प्रत्येक हिन्दू गाँव में, जिसमें उसका पुरातन रूप शेष रह गया है, बच्चे प्रायः पढ़-लिख और गणित कर सकते हैं। परन्तु जहाँ-जहाँ हमने ग्राम व्यवस्था को, बंगाल की तरह, नष्ट कर दिया गया है, वहाँ-वहाँ ग्रामीण पाठशालाएं भी लुप्त हो गई हैं। मेरे विचार में यह कथन हमारी इस डींग को, कि हम भारतीयों को शिक्षा दे रहे हैं, भली भाँति ध्वस्त कर देता है।''[३८८]

ट्रावनकोर के देशी राज्य ने (वर्तमान केवल राज्य का एक भाग-जहाँ साक्षरता का प्रतिशत भारत कें सर्वाधिक है) ''अंग्रेजी राज के दौरान भी १८०१ में सार्वजनिक शिक्षा को संगठित करना आरम्भ कर दिया था;[३८९] जबकि इंग्लैंड में ऐसा १८७० में प्रारम्भ हुआ, यद्यपि इंग्लैंड द्वारा शासित भारत में सार्वजनिक शिक्षा को कभी चालू ही नहीं किया गया। हमें बताया जाता है कि १९०९ में मैसूर और बड़ौदा के देशी राज्यों में शिक्षा निःशुल्क एवं अनिवार्य थी।''[३९०]

जब १९४७ में अंग्रेजों ने देश छोड़ा तब उन्होंने न केवल आर्थिक स्थिति में, बल्कि निरक्षरता में भी समस्त संसार के अन्दर घोरतम अन्धकार का एक धब्बा भारत के भाल पर छोड़कर गये, जहाँ केवल लगभग १५ प्रतिशल लोग ही पढ़ने-लिखने योग्य थे जो भारत के प्रशासनार्थ क्लर्कों के रूप में अंग्रेजों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, और वेतनों को कम रखने के लिए पर्याप्त थे, क्योंकि उनकी पूर्ति मांग से अधिक होने के कारण शिक्षित बेकारों का तांता बना रहता था

जो आश्चर्यजनक कम वेतन पर भी काम करने के लिए तैयार रहते थे। एक दक्षिण अमेरिकी लेखक ने ठीक ही लिखा है कि "जनता को शिक्षा से वंचित रखना निस्सन्देह उपनिवेशी शक्ति के स्वार्थ में है। शिक्षित भारतीयों का एक छोटा-सा वर्ग शेष देशवासियों पर शासन चलाने में अंगेजों की सहायता करने के लिए पर्याप्त था।"[३९१] इस १५ प्रतिशत में वे शिक्षित भी शामिल थे जो गैर-सरकारी एजेंसियों, जनता के और इस शताब्दी के चौथे दशक में प्रान्तों में स्थापित लोक-मंत्रिमंडल के प्रयासों के, कारण शिक्षित थे।

चूंकि क्लर्कों के लिए किसी प्रकार की तकनीकी या अर्द्ध-तकनीकी शिक्षा की आवश्यकता नहीं है, अतः इस प्रकार की शिक्षा से जनता को वंचित रखना अंग्रेजी साम्राज्यवाद के हितों में था। अंग्रेजी शासन के अन्त के समीप १९३४ में एक अमेरिकी विद्वान ने लिखाः "आइओवा जैसे एक छोटे-से अमेरिकी राज्य में भी जहाँ की जनसंख्या अंग्रेजी भारत की जनसंख्या का एक प्रतिशत है, कृषि, वाणिज्य, अभियांत्रिकी जैसे क्षेत्रों में भारत से अधिक छात्र हैं।"[३९२]

आइये, राष्ट्रीय ऋण की चर्चा पर पुनः लौटे। इस प्रकार के भरकम और अनुत्पादक खर्चो के कारण राष्ट्रीय ऋण १९३९ तक ८८ करोड़ ४२ लाख पौंड की विकराल राशि तक पहुँच गया। इसके बाद द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध की ही भांति, भारतीय जनता अथवा नेताओं से किसी भी प्रकार के सलाह-मशविरे के बिना, तानाशाही शासन के प्रतिनिधि, भारत के ब्रिटिश वायसराय, ने इस देश को भी द्वितीय विश्वयुद्ध की भट्ठी में झोंक दिया। एक विदेशी ने ४० करोड़ जनता के एक राष्ट्र को ऐसे महायुद्ध की भट्ठी में झोंक दिया जो उसके तनिक भी हित में नहीं था। अंग्रेजों की लड़ाई, जो उन्होंने

अपने पुराने ढांचे को यथापूर्व रखने के लिए लड़ी, प्रथम विश्वयुद्ध की ही भांति इस युद्ध में भी भारतीयों को जन-धन-माल सहित सब कुछ बलिदान करना पड़ा। ब्रिटेन ने भारत में कृत्रिम रूप से नियंत्रित कम कीमतों पर सामान और सेवाएं खरीदीं। इसका अर्थ यह था कि भारतीयों को अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी बहुत भारी कीमतें चुकानी पड़ती थीं। बदले में भारत को अंग्रेजों के ऋणपत्र तथा मुद्रा-नोटों के बंडल मिले जिन्होंने घनी स्फीति एवं अकाल के रूप में पहले से ही दुःखी जनता के कष्टों में अपार वृद्धि कर दी। नितांत निर्धनता में बदला हुआ भारत अब संसार के सर्वाधिक धनी देश का ऋणदाता बन गया। ऐसा केवल इसीलिए हो सका क्योंकि भारत एक गुलाम देश था जिसे इस सीमा तक इतनी मात्रा में सामग्री और सेवाएं अपने स्वामी को बेचनी पड़ीं कि पिछले लगभग १५० वर्षों से विशाल पर्वत की भांति इकट्ठा हुआ भारत का ब्रिटेन के प्रति राष्ट्रीय ऋण का भुगतान दूसरे विश्वयुद्ध के कुछ ही वर्षों में देय से भी अधिक हो गया। अब इंग्लैंड भारत का लगभग ५५ करोड़ पौंड का ऋणी हो गया था।''[३९३] परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भारत अब एक लाभकारी उपनिवेश नहीं रहा। आंकड़ें और तथ्य देने के बाद एक अमेरिकी लेखक ने १९४५ में यह निष्कर्ष निकाला कि ''युद्ध-पूर्व की ही भांति आज भी भारत विश्व भर के उपनिवेशों में सर्वाधिक मूल्यवान है।''[३९४]

□□□

दसवां अध्याय

अंग्रेजी शासन के आर्थिक परिणाम

भारत की बढ़ती निर्धनता

अंग्रेजों द्वारा लगभग २०० वर्षो से निरन्तर पालन की गई अनर्थकारी नीतियों का स्वाभाविक परिणाम लोगों की अत्यधिक निर्धनता था। ज्यों-ज्यों अंग्रेजी शासन प्रगति करता गया, यह निर्धनता और भी बढ़ती गई। भारत के विविध भागों में निर्धनता की गहनता और अंग्रेजी शासन की अवधि में एक निश्चित सम्बन्ध है; जितना लम्बा शासन, उतनी गहनतर गरीबी।

अंग्रेजी राज्य के १२५ वर्ष बाद, अपने १८८२ के बजट-भाषण में भारत के वित्त-मंत्री मेजर (सर) ई.बेरिंग ने अंग्रेजी भारत के 'जन-समूह की अत्यधिक निर्धनता' के अपने दावे के प्रमाण में न केवल 'यूरोप के पश्चिमी देशों' के साथ अपितु 'यूरोप के निर्धनतम देश' के साथ उसकी तुलना की। यह कहने के उपरान्त कि भारत की आय प्रति व्यक्ति २७ रुपए (उस समय दो पौंड के बराबर) से अधिक नहीं है, उसने कहा : ''इंग्लैंड की प्रति व्यक्ति औसत आय ३३ पौंड है; फ्रांस की २३; यूरोप के निर्धनतम देश तुर्की की ४ पौंड है।''[३९५अ] यह भारत की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय का अनुमान था; यद्यपि भारत के 'महान वयोवृद्ध' पुरुष ने सरकारी आंकड़ों के आधार पर इसको २० रुपए निश्चित किया जो ''किसी भी व्यक्ति द्वारा अभी तक गलत या शोधनीय सिद्ध नहीं किया गया।''[३९५] बेरिंग भी कहता था: ''इस प्रकार की गणना के बिलकुल सही होने का दावा करने को मैं तैयार नहीं।'' इसमें कि प्रति व्यक्ति आय २७ रुपए थी अथवा २० रुपए, कोई विशेष

अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि २७ रुपए की आय भी 'जनसमूह' की विश्व में अधिकतम निर्धनता' को दर्शाने के लिए पर्याप्त थी। इस आय में धनी,निर्धन सरकारी और गैर-सरकारी सब लोगों की आय शामिल थी।,

एक उच्चतम अंग्रेज पदाधिकारी के अनुसार भारत की प्रति व्यक्ति आय का मध्यमान 'यूरोप के रोगी पुरुष' बेहतरीन शासित, निर्धनतम देश की आय की आधी से भी कम थी ऐसा भारत जिसको संसार में सर्वाधिक वेतन पाने वालों द्वारा शासित किया जाता था। अन्य सरकारी रिपोर्टों ने भी इसकी पुष्टि की।

ए.जे.विलसन ने १८८२ में 'फ्रेजर्स' पत्रिका में लिखाः ''भिन्न-भिन्न जिलों की स्थिति के विषय में (सरकारी रिपोर्टों में निर्धनता की गाथाएं) हृदय-विदारक हैं। बहुतों में तो हमारे द्वारा कल्पनीय किसी भी दृष्टि से निर्धनता नहीं है, बल्कि जीवित मृत्यु है।[३९६]

एच.एम.हण्डमैन ने, १८८६ में लिखा कि ''भारतीय निर्धन से निर्धन होते जा रहे हैं; कर न केवल वास्तव में बल्कि अपेक्षाकृत बहुत भारी हैं; अन्न की कमी निर्धनता के क्षेत्र को बढ़ाती है और अकाल अधिक और बारम्बार आते हैं; लगभग सारा व्यापार लोगों की गरीबी और कमरतोड़ करों का सूचक है; और एक सुसंगठित विदेशी शासन स्वयं में ही देश पर अत्यधिक भयानक परिशोषण है।''[३९७] हिन्डमैन हमें अंग्रेजी साम्राज्यवाद के परिणाम के बोर में बतलाता है। ''सत्य यह है कि सारा का सारा भारतीय समाज हमारे शासन में भयंकर रूप से निर्धन हो गया है औ यह प्रक्रिया अब दिन पर दिन बढ़ती जा रही है।''[३९८]

''हमारे देखते-देखते, भारत दुर्बल से दुर्बलतर होता जा रहा है। हमारे शासन में विशाल जनसंख्या की प्राणशक्ति का धीरे-धीरे, परन्तु तेज गति के साथ ह्रास हो रहा है।''[३९९]

१८८८ में भारत के वायसराय ने भारतीयों की आर्थिक स्थिति के बारे में एक गोपनीय जांच की। सरकार के विभिन्न जिला पदाधिकारियों ने रिपोर्ट भेजी। फिर भी ऐसी जाँच के परिणामों को सार्वजनिक नहीं किया गया। ब्रिटिश संसद का सदस्य होने के कारण, विलियम डिग्बी इसके कुछ निष्कर्षों को देख सका। समस्त पदाधिकारी एक बात पर सहमत थे : देश का जनसमूह नितांत निर्धन था। विस्तार के लिए लेखक डिग्बी की प्रशंसनीय पुस्तक 'वैभवशाली ब्रिटिश भारत' को देख सकते हैं। डिग्बी ने लिखा : ''भारत की आज (१९०१) की स्थिति उस अवस्था की अपेक्षा भयंकर रूप से बहुत खराब है, जो बंगाल की खाड़ी को उद्वेलित करती तथा हिन्दुस्तान के उत्तर-पूर्वी तट की ऊँची पहाड़ियों से टकराती १८०१ की पहली भोर के समय थी।''

''किसी भी ओर दृष्टि दौड़ाएं, जन-समूह की भौतिक समृद्धि के प्रश्न का उत्तर प्राचीन काल की अपेक्षा बहुत की प्रतिकूल होगा। अब समृद्धि नहीं है, परन्तु एक समय समृद्धि थी। उन सारी भौतिक विशेषताओं में जो किसी भी देश को समृद्धिशाली बनाती हैं, १ जनवरी, १९०१ का भारत १ जनवरी १८०१ के भारत से इतने कोसों पीछे है, जिसकी गणना करना भी कम से कम मैं अनावश्यक समझता हूँ।''[४००]

स्वर्ग के लाडले आई.सी.एस.के एक सेवानिवृत्त सदस्य डब्ल्यू.एस.लिली ने १९०२ में करोड़ों किसानों के बारे में लिखा : ''उनका अस्तित्व भूख के साथ एक सतत युद्ध है, जिसमें प्रायः उनकी

हार होती है। उनके सामने मानुषिक जीवन, अपनी निर्धनता के निम्मतर तक भी जीने का प्रश्न नहीं है, परन्तु किसी भी प्रकार जीवित रहने का, और न मरने का प्रश्न है।''[४०१]

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थाश में सर चार्ल्स एलियट ने कहा: ''मुझे ऐसा कहने में कोई संकोच नहीं है कि आधी खेतिहर जनसंख्या को सालोसाल कभी इतना भी पता नहीं लगता कि 'भरपेट भोजन' का अर्थ क्या है।''[४०२]

एक और अन्य सेवानिवृत्त आई.सी.एल. पदाधिकारी ने १९०३ में लिखा : ''भारतीय जनसंख्या का दो-तिहाई भाग, लगभग २० करोड़ लोग, सदा से भूखे कृषक और मजदूर है।[४०३]

जे.कीयर हार्डी ने १९०९ में 'असली चूहा-प्लेग'- भारतीय सरकार-के बारे में लिखा कि सरकार ''का लोगों के प्रति प्रत्येक व्यवहार निष्ठुर और कठोर है...भारत के लोग तो केवल कोल्हू के पाटों के बीच दबे उन बीजों के समान हैं जिनको तेल निकालने के लिए पीस दिया जाता है।''[४०४]

''भारत में असली चूहा-प्लेग तो गरीबी है और सरकार वह पिस्सू है जो रोग को फैलाती है।''[४०५]

जे.रैमजे मैक्डानल्ड, जो १९२० के दशक में ब्रिटेन का प्रधानमंत्री था और १९०९ में जब उसने यह लिखा तब ब्रिटिश संसद का सदस्य था :''सर विलियम हंटर ने कहा कि चार करोड़ भारतीयों के जीवनपर्यन्त अपर्याप्त भोजन मिलता है; सर चार्ल्स एलियट के अनुमानानुसार आधी कृषि जनसंख्या को सालोसाल भरपेट भोजन नहीं मिलता। भारत में ३ करोड़ से ५ करोड़ परिवार ३$^{१/२}$ पैन्स प्रतिदिन से कम आय पर रहते हैं...भारत की निर्धनता कोई 'मत' नहीं है, यह एक 'तथ्य है।''[४०६]

एक ब्रिटिश साम्राज्यवादी अर्थशास्त्री, वीरा ऐनसटी तक ने भी १९२९ में जो ''सारे संसार में अपने लोगों की निर्धनता के लिए एक कहावत बन गया है'' उस भारत के बारे में लिखा :

''भारत में एक मस्तमौला यात्री भी देश की महान् भौतिक क्षमता और उसके अधिकांश लोगों की अत्यल्प आर्थिक उपलब्धियों के बीच की खाई को देख कर चकित हुए बिना नहीं रह सकता।''[४०७]

''जब अंग्रेजों के पूर्वज नितान्त असभ्य जीवन बिता रहे थे उस समय जो देश सर्वोत्तम मलमल और अन्य राजसी वस्त्र तथा वस्तुएं उत्पादित एवं निर्यात करता था, वह देश उन्हीं जंगली और गंवारों के वंशजों द्वारा प्रारम्भ की गई आर्थिक क्रांति में भाग लेने में असमर्थ हो गया है।''[४०८]

स्पष्टतया, भारत का अंग्रेजी राज भारत की ''उस अगाध निर्धनता का कारण था जो इतनी गहन थी कि जिसकी थाह लेने के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है।''[४०९] एक प्रतिष्ठित अमरीकी इतिहासकर, विचारक और लेखक ने १९३० में लिखा : ''मैं अंग्रेजों की प्रशंसा करते हुए भारत आया...मैं इस अनुभूति से भारत छोड़ रहा हूँ कि इसकी भयंकर निर्धनता इसकी विदेश सरकार के विरुद्ध अखंड अभियोग है। अब तक इसको अंग्रेजों का राज्य बनाय रखने के लिए एक बहाना मात्र बनाया गया है, परन्तु यह इस बात का अति प्रबल प्रमाण है कि भारत पर अंग्रेजों का स्वामित्व एक महान् अनर्थ और अपराध है...अब तक चल रही वर्तमान लूट-खसोट मानवीय सहनशक्ति से परे है; यह वर्ष-प्रतिवर्ष इतिहास के एक महानतम और सज्जनतम मानव-समाज को नष्ट कर रही हैं।''

''भयंकर बात तो यह है कि यह निर्धनता अन्त नहीं, आरम्भ है; यह कम होने के स्थान पर भीषणतर होती जा रही है। इंग्लैंड 'भारत का स्वराज के लिए तैयार' नहीं कर रहा है, वह तो खून चूसकर उसको मृत्यु के घाट उतार रहा है।''[४१०]

ब्रेल्जफोर्ड ने १९४३ में लिखा कि ''हमारे शासन में इस प्रायद्वीप में मानवी जीवन का मूल्य कल्पना के निम्नतम स्तर तक पहुँच गया है।''[४११,]

जौन येल, जिसके पूर्वज के नाम पर अमेरिका में येल विश्वविद्यालय स्थापित हुआ, क्योंकि उसने भारत में बेईमानी से केवल २० वर्षों में बनाई अपनी विशाल सम्पत्ति में से (लेखक ने इसको १९६१ में ५० लाख डालर माना) एक वसीयत विश्वविद्यालय के नाम कर दी थी। वह भारत की निर्धनता का कारण बतलाता है

''यह प्रायः कहा जाता है कि यूरोपीय देश 'पिछड़े लोगों की सामाजिक सेवा' के लिए पूर्व में गए; और भारत की वर्तमान आर्थिक दुर्गति का कारण उसकी मजहब में दृढ़ रुचि है। यूरोपीय पूर्व में इसलिए गए कि वहाँ पर बहुत विशाल सम्पत्ति थी और उसमें से कुछ को हथियाने के अच्छे अवसर थे और, भारत की वर्तमान निर्धनता का मूल कारण यह है कि वे इसको हथियाने और उस लूट को अपने साथ काफी मात्रा में विदेश लाने में बहुत अधिक सफल रहे।''[४१२]

अंग्रेजी राज के मानसिक परिणाम भी बड़े गहन अनर्थकारी हुए। भारतीय जन-समूह के चरित्र की विशेषताएं बन गई : सेना का डर, पुलिस का डर, प्रत्येक सरकारी नोकर का डर चाहे वह नौकरशाही में कितने ही छोटे स्तर पर हो, और प्रत्येक गोरे का डर। न कोई साहसी काम करने का उत्साह और न कोई अपने भाग्य को सुधारने की इच्छा

बाकी रही। ये सब चिरकालिक भूख और निर्धनता के स्वाभाविक परिणाम थे;[४१३] न कि हिन्दू दर्शन और धर्म के, जैसा कि लगभग समस्त पश्चिमी लेखक चाहते हैं कि हम विश्वास कर लें।

उपसंहार

जब अंग्रेजी राज आरंभ हुआ, तब भारत विश्व में सबसे धनी देश था और समस्त संसार में अनन्त समय से वह विश्व में 'धनाढ्यता को उपमान' समझा जाता था, उसके उद्योगों द्वारा निर्मित विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को संसार की चारों दिशाओं में भेजा जाता था, जिसके बदले में सारा संसार कम से कम तीन हजार वर्षों से निरन्तर अपने सोना–चाँदी भारत में भेजता रहा था; और उसके हरे–भरे खेत और समृद्ध कृषि केवल उसके अपने बच्चों को ही नहीं, परन्तु समस्त एशिया को पुष्टिकर खाद्यान्न की आपूर्ति करती थी। जब अंग्रेजी राज समाप्त हुआ, तब भारत सारे संसार में अपनी जनता की निर्धनता के लिए एक कहावत बना हुआ था; लगभग सारी तैयार वस्तुएं भारत के विदेशों से आती थीं, जिसके बदले में भारत को अपना सोना–चाँदी एवं अपने लहू और हड्डियों से सिंचित कच्चे माल को विदेश भेजना पड़ता था; एवं उसकी विस्तृत समतल भूमि अपने बच्चों तक का पेट नहीं पाल पाती थी।

अंग्रेजों के लिए, भारत ''कुल हिसाब लगाकर साम्राज्य के समस्त अधीन क्षेत्रों में सर्वाधिक लाभदायक था।''[४१४] और ''धन कमाने के लिए एक उपयुक्त क्षेत्र–एक मानवी पशुपालन फार्म था।''[४१५] भारतीयों के लिए, महात्मा गांधी के शब्दों में, अंग्रेजी शासन 'शैतानी शासन'[४२६] और एक अभिशाप था।[४१७] भारत ने अंग्रेजी राज्य के विषय

में अपना निर्णय दिया जब उसने यह घोषित किया कि इसने ''न केवल भारतीयों की स्वतन्त्रता छीन ली है, बल्कि यह जनसमूह के परिशोषण पर आधारित है, और उसने भारत का आर्थिक, राजनीति, सांस्कृतिक और आत्ध्यात्मिक दृष्टियों से विनाश कर दिया है।''[४१८]आश्चर्य तो यह है कि साम्राज्यवादियों का वरिष्ठ, विन्सटन चर्चिल, भी भारत से सहमति प्रकट करता प्रतीत होता है जब उसने यह कहा कि ''भारत में हमारा शासन गलत है और भारत के लिए सदा गलत रहा है।''[४१८अ] अंग्रेजों द्वारा भारत में लाए इन 'चौहरे विनाशों' में से केवल आर्थिक विनाश का ही विवेचन यहाँ किया गया है, जो सारा करीब-करीब विदेशियों की लेखनियों के माध्यम से है और जिसमें से अधिकांश स्वयं अंग्रेज हैं।

गरीबी केवल एक तीन अक्षरों वाला शब्द नहीं है; किन्तु यह तो एक ऐसा दानवी है जिसके पंजे इतने तीक्ष्ण हैं कि जो मानव के अस्तित्व तक को भी नष्ट कर देते हैं। इसको ''विशालतम पाप एवं निकृष्टतम अपराध''[४१९] और ''मुँह बाये निष्ठुर नरक जो सभ्य समाज को लील लेता है,''[४२०] कहा गया है। इसलिए यह कदापि आश्चर्यजनक नहीं कि टामस पेन ने ब्रिटेन को ''सारी पृथ्वी पर भगवान के प्रति सबसे भयंकर और कृतघ्न अपराधी'' कहा है। जिसने ''पूरे के पूरे देशों की अंतड़ियों को, उनका सब कुछ छीनने के लिए, चीर डाला है।''[४२१] पेन ने यह उस समय लिखा जबकि भारत में अंग्रेजी राज ने अपने पंजे दिखाने अभी-अभी शुरु ही किये थे। यदि उसने अंग्रेजी साम्राज्यवाद की पूरी शक्ति (जो बर्बर डकैती के लिए एक परिष्कृत पर्याय है) देखी होती तो वह डॉक्टर रदरफोर्ड के साथ अवश्य सहमत होता जब उसने ''अंग्रेजी राज को, जिस प्रकार

से वह भारत में चलाया जाता है'' विश्व भर में महानीच और सबसे अनाचारी राज्य–एक राष्ट्र के दूसरे राष्ट्र द्वारा परिशोषण पर आधारित[४२२] बताया। पेन, हौबिट के साथ भी सहमत होगा, जब उसने सारे उपनिवेशों में गोरों की नीतियों को ''सारे संसार में न कभी देखे, न कभी सुने गए ऐसे भीषणतम, व्यापक और अकल्पनीय अपराध'' कहा।[४२३]

इन पन्नों में बताई गयी दर्दनाक गाथा ''हमारी पश्चिमी सभ्यता की महिमाओं और विशेषताओं को एक धक्का'' है। यह सम्पत्ति के लिए, 'निम्म जातियों' के अधिकारों अथवा भलाइयों का तनिक भी विचार न करते हुए, बेरहम लड़ाई की एक गाथा है।''[४२४] इन पत्रों को पढ़ने के बाद, पाइक उस अंग्रेज से सहमत होंगे जिसने कहा कि ''पूर्व में इंग्लैंड वह इंग्लैंड नहीं है जिसे हम जानते हैं।''[४२५] कुख्यात साम्राज्यवादी, रड्यार्ड किपलिंग, की माँ से भी पाठक सहमत होंगे जब उसने कहा कि ''उनको इंग्लैंड का क्या ज्ञान है, जिन्हें केवल इंग्लैंड का ही ज्ञान है।''[४२६]

किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि भारत ने अंग्रेजों से या पश्चिमी सभ्यता से, अथवा उन्होंने भारत से, कुछ भी नहीं सीखा। यह स्वाभाविक है कि जब दो सभ्यताओं का परस्पर सम्बन्ध होता है तब वे सदैव एक–दूसरे से सीखते और प्रभावित होते हैं, चाहे वे एक दूसरे के शत्रु ही क्यों न हों।[४२७] परन्तु मुख्य बात तो यह है कि ''उसका बहुत कुछ जो सकारात्मक था।

– अभी कुछ बाकी है।

❑❑❑

टिप्पणियां

परिचय

१. स्नेकोर्ट, पृ० ८५६ ।

२. हेगेल, पृ० १४२ ।

३. जी० वर्डवुड, रिपोर्ट ऑन द ओल्ड रिकॉर्ड्स ऑफ इंडिया ऑफिस, पृ० २८५ ।

४. लैंडस्ट्रॉम द्वारा उद्धृत, पृ० २२२-२३ ।

५. देखिए, लैंडस्ट्रॉम चौथा आवरण।

६. विट, पृ० १९ ।

७. 'केप ऑफ गुड होप' की संक्षिप्त कथा के लिए देखिए 'लैंडस्ट्रॉम', पृ. २२२-२३; साथ ही विल डूट, 'दि फोर्मेशन', पृ० १४४ भी देखें।

८. यह जान लेना चाहिए कि यूरोपवासियों से शताब्दियों पहले भारतीय नौचालकों ने हिन्द महासागर की अफ्रीकी तट तक व्यापक छानबीन कर रखी थी।
-पनिकर, पृ०२८ ।

९. टौजेंट, पृ० ९७।

१०. जी० बर्डवुड, : रिपोर्ट ऑन द ओल्ड रिकॉर्ड्स ऑफ इंडिया ऑफिस, पृ० २५६ ।

११. टॉयन्बी, पृ० ४२ ।

१२. थाम्पसन तथा गैरेट, पृ० ४२ से उद्धृत; विलडूरेट, : अवर ओरिएंटल हेरिटेज, पृ० ६१३ भी देखें।

१३. मजूमदार, 'ब्रिटिश पैरामाउंट्सी ऐंड इंडियन रेनेसा', भाग II, पृ० ३९५।

१४. लाजपतराय, : यंग इंडिया, पृ० १२१ ।

१५. सर कोपलैंड, पृ० ४४ से उद्धृत।

१६. नौरोजी, पृ० २६३ से उद्धृत; नेहरु ग्लिम्पसेज़ वर्ल्ड ऑफ हिस्टरी, पृ० ६४२ से अंशत : उद्धृत।

पहला अध्याय

१७. सैंडरसन, पृ० ४२ ।

१८. आर० कमल मुकर्जी, पृ० XVII ।

१९. वही, पृ०१।

२०. पिरार्ड, खंड II, पृ० २४७–४८ ।

२१. सदरलैंड, पृ० ३६७ ।

२२. बनर्जी, पृ० ५४ से उद्धृत।

२३. बेन्स, पृ० ५७ से उद्धृत।

२४. वही, पृ० ५८ ।

२५. बुचनन, पृ० १९४ ।

२६. सर जी० बर्डवुड, 'द इंडस्ट्रियल आर्ट्स ऑफ इंडिया', खंड II, पृ० ८३ । पुस्तक सेक्रेटरी ऑफ स्टेट इंडिया के अनुरोध पर लिखी गई।

२७. वही, पृ० ९५ ।

२८. बेन्स, पृ० ३३५ ।

२९. रमेश दत्त, खंड I, पृ० १७९ से उद्धृत ।

३०. बेन्स, पृ० ५६ ।

३१. भट्टाचार्य, पृ० ६५२–५३ ।

३२. औमीं, पृ० २६३–६५

३३. रामगोपाल, पृ० ७६–७७ से उद्धृत।

३४. आर० कुमुद मुकर्जी, पृ० १८३ से उद्धृत।

३५. वही, पृ० १८० ।

३६. विलियम डिग्बी द्वारा उद्धृत, पृ०८६–८७ ।

३७. डूरेट, : अवर ओरिएंटल हेरिटेज, पृ० ४७९ ।

३८. धर्मपाल, पृ० २६० ।

३९. इस अनुच्छेद के लिए मैं श्री धर्मपाल का ऋणी हूं! – पृ० L, LXX, २ और २४३ ।

४०. वही, पृ० २६६ ।

४१. इस अनुच्छेद के लिए मैं श्री धर्मपाल का ऋणी हूं!– अध्याय १२ और १३

४२. लोकेश द्वारा संपादित, अनिल डि सिल्वा, पृ० ३०१ ।

४३. सिंघल, खंड I, पृ० ७९ ।

४४. बोल्ट्स, पृ० १४–लेखक एक अंग्रेज था, एक सौदागर और नगरपाल न्यायाधीश। कलकत्ता का मेयर्स ईस्ट इंडिया कंपनी के शासनाधीन था।

४५. गांगुली, खंड I, पृ० ७९ ।

४६. आर० कमल मुकर्जी, पृ० १५९–६० ।

४७. बेन्स, पृ० ७९ से उद्धृत।

४८. वही, पृ० ७९–८०।

४९. वही, पृ० ८० ।

५०. मजूमदार (संपा०) : द एज ऑफ इंपीरियल यूनिटी, पृ० ६०२ ।

५१. मेजर, पृ० VIII ।

५२. बाशम, पृ० २५ ।

५३. टौजेंट, पृ० ४० ।

५४. विल डूरेंट ने १९३५ में यह राशि ५०,००,००० शिलिंग आंकी थी (अवर ओरिएंटल हेरिटेज, पृ० ४७९), जो अब उल्लेखनीय रूप से कहीं अधिक है। मेजर द्वारा संपादित, पृ० VI ।

५५. ऐडम्स, पृ० ७९ ।

५६. बेन्स द्वारा संपादित, पृ० २५–२६ से उद्धृत–डॉ० जॉन हैरिस।

५७. कैरी, पृ० २१।

५८. ताराचंद द्वारा संपादित, खंड I, पृ० १५० ।

५९. एडवर्ड्स, : ब्रिटिश इंडिया, पृ० ८६ ।

६०. फॉस्टर-संपादित, पृ० ३०२ ।

६१. आर० कुमुद मुकर्जी, पृ० ५७-५८ ।

६२. वर्डवुड, : द इंडस्ट्रियल आर्ट्स ऑफ इंडिया, खंड I, पृ० १३६ ।

६३. कास्ट्रो, पृ० १८४ ।

६४. वी० बी० सिंह, : इंडियन इकोनामी-यस्टर्डे ऐंड टुडे पृ० १६ से उद्धृत।

६५. कान्स्टेबल, पृ० २५९-५९ ।

६६. आर० कमल मुकर्जी, पृ० ८७ ।।

६७. पिराई, पृ० २५२-५३ ।

६८. आर० कमल मुकर्जी, पृ० ८३।

६९. वहीं, पृ० ८३ ।

७०. वहीं, पृ० ८३ ।

७१. वी० बी० सिंह, : इंडियन इकोनॉमी-यस्टर्डे ऐंड टुडे, पृ० २० ।

७२. आर० कमल मुकर्जी, पृ० ८६ ।

७३. सुदरलैंड, पृ० ३६७ ।

७४. लाजपतराय : इंगलैंड्स डेबिट टु इंडिया, पृ० १६ से उद्धृत।

७५. रोमेश दत्त, खंड I, पृ० ७१-७२ ।

७६. नौरोजी, पृ० ५२३ से उद्धृत।

७७. वही, पृ० ५३३ ।

७८. लाजपतराय : इंग्लैंड्स डेबिट टु इंडिया, पृ० २१ से उद्धृत।

७९. नौरोजी, पृ० ५३५-३६ से उद्धृत।।

८०. लॉर्ड मैकाले; क्रिटिकल, हिस्टोरीकल ऐंड मिसलेनियम एसेज़ पृ० ५१७ ।

८१. डूरेट : अवर ओरिएंटल हेरिटेज, पृ० ४८१ ।

८२. लाजपतराय : इंग्लैंड्स डेबिट टु इंडिया, पृ० २४ से उद्धृत।

८३. मार्शल, पृ०५८।

८४. दादाभाई नौरोजी, पृ० ५२७-२८ से उद्धृत।

८५. बोल्ट्स, पृ० १९ से उद्धृत।

८६. वही, पृ० २० ।

८७. नौरोजी, पृ० ५३६-३७ से उद्धृत।

८८. हैबर, खंड II, पृ० ४९ एवं ६३ ।

८९. ए० जे० विल्सन, पृ० ३३ ।

९०. हैबर, खंड II, पृ० ३५९–६० ।

९१. नौरोजी, पृ० ५३९ से उद्धृत।

९२. नेहरू : डिस्कवरी ऑफ इंडिया, पृ० ३०३ ।

दूसरा अध्याय

९३. कर्निंघम, पृ० ६१० ।

९४. एच० जी० वेल्स अंग्रेज़ों की भारत विजय को विशाल डाकेजनी की संज्ञा देता है। (सुन्दरलैंड से उद्धृत, पृ०४३९)

९५. जे० बी० एस० हाल्डाने द्वारा उद्धृत (देखिए रोनाल्ड क्लार्क, पृ० २०७)।

९६. थॉम्पसन एवं गैरेट, पृ० ११३ ।

९७. ए० मेर्वीन डेविस : वारेन हेस्टिंग्स, पृ० १३७ ।

९८. ऐडम्स, पृ० २९१ ।

९९. मैकाले : किटिकल एण्ड हिस्टोरीकल एसेज़, पृ० ५२७।

१००. ए० मेवीन डेविस : वारेन हेस्टिंग्स, पृ० ५४ ।

१०१. मैकाले : क्रिटिकल, हिस्टीरीकल एण्ड मिसलैनियस एसेज, खंड IV, पृ० २६१ ।

१०२. कुलकर्णी, पृ० ८७ ।

१०३. स्ट्रैची, पृ० २३ ।

१०४. किनकेड, पृ० ६७ ।

१०४अ. वही, पृ० १०८ ।

१०५. ए० मेर्वीन डेविसः क्लाइव ऑफ प्लासी–ए वॉयोग्राफी, पृ० २६ से उद्धृत।

१०६. थॉम्पसन एवं गैरेट, पृ० १०८ ।

१०७. मैकाले : 'क्रिटिकल एण्ड हिस्टोरीकल एसेज़', पृ० ५३३–३४ ।

१०८. ये शब्द चार्ल्स ए० बर्ड की भूमिका से लिए गए हैं (देखिए, ऐडम्स, पृ० ३–४)।

१०९. ऐडम्स, पृ० २९०–९१ ।

११०. वही, पृ० २९७–३०० ।

१११. थॉम्पसन एवं गैरेट, पृ० १०९–११ ।

११२. देखिए, लाजपतराय : 'इंग्लैंड्स डेबिट टु इंडिया', पृ० १३१–३३ पर उद्धृत कुछ उदाहरण।

११३. डिग्बी, पृ० ३०–३१ ।

११४. वोल्ट्स, पृ० VIII

११५. जेम्स मिल, खंड III, पृ० २५५ ।

११६. होविट, पृ० २६२ से उद्धृत।

११७. नौरोजी, पृ० २४४ ।

११८. हौफमैन एवं लेवेक (संपा०) : 'वर्क्स पॉलिटिक्स', पृ०२३३।

११८अ. वही पृ० २६३ ।

११९. वोल्ट्स, पृ०७३-७४ ।

१२०. विस्तार के लिए देखिए, वोल्ट्स, पृ० १९१-९५।

१२१. वही, पृ० २०० ।

१२२. वही, पृ० १६३ ।

१२३. लाजपतराय: 'इंग्लैंड्स डेबिट टु इंडिया', पृ०३९ से उद्धृत।

१२४. जेम्स मिल, खंड IV, पृ० ३५५ से उद्धृत।

१२५. थॉम्पसन एवं गैरेट, पृ० १९१ से उद्धृत।

१२६. दि वर्क्स ऑफ एडमंड वर्क, खंड III, पृ० १८ ।

१२७. नोल्स, पृ०७३।

१२८. दि वर्क्स ऑफ एडमंड वर्क, खंड III, पृ०१७-१८।

१२९. रोमेश दत्त, खंड I, पृ० ३१ ।।

१३०. वही, पृ० ३१ ।

१३१. नौरोजी, पृ० ७९ से उद्धृत।

१३२. डिग्बी, पृ० ३३।

१३३. नौरोजी, पृ० ३१९ से उद्धृत ।

१३४. आर० पाम दत्त, पृ० १२५ से उद्धृत।

तीसरा अध्याय

१३५. विस्तार के लिए देखिए, बेन्स, पृ० ३२५ ।

१३६. वही, पृ० ३२७ विस्तार के लिए।

१३७. सर हेनरी कॉटन, पृ० १०५ से उद्धृत।

१३८. ये आंकड़े ईस्ट इंडिया तथा चाइना एसोसिएशन के चेयरमैन श्री लार्पेट ने ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स की प्रबर समिति के सम्मुख १८४० में प्रस्तुत किए थे। -रोमेश दत्त, खंड I, पृ०७७ से उद्धृत।

१३९. वही, पृ० ७२ ।

१४०. और भी विस्तार के लिए देखिए, रोमेश दत्त, खंड II, पृ० ७१-८३

१४१. वर्डवुड : दि इंडस्ट्रियल आर्ट्स आफ इंडिया, खंड I, पृ० १३७

१४१अ. सर हेनरी कॉटन, पृ० १०६-९ ।

१४२. नेहरू : डिस्कवरी ऑफ इंडिया, पृ० ३१६ से उद्धृत।

१४२अ. ब्रिटिश सरकार भारतीय जनता मं बेरोजगारी फैलाने के लिए नीतियों से आघात करना पूरी तरह उचित समझती थी (बायर्स पृ० ५८, देखिए)

१४३. आर० कमल मुकर्जी, पृ० १९३ ।

१४४. वी० बी० सिंह (संपा०) इकोनॉमिक हिस्टरी ऑफ इंडिया, पृ० ३२९ उद्धृत।

१४४अ. डिग्बी, पृ० ८८ ।

१४५. डूरेट : दि केस फोर इंडिया, १३।

१४६. बुकनन, पृ० ४६५ से उद्धृत।

१४७. रोमेश दत्त, खंड II, पृ० २९५ से उद्धृत।

१४८. वही, पृ० ३०३–४ ।

१४९. पी०सी० जैन, पृ० १३२ से उद्धृत।

१५०. मिचेल, पृ० १२६।

१५१. मैडरसन, पृ० २१४ ।

१५२. नेहरू : डिस्कवरी ऑफ इंडिया, पृ० ४३५ ।

१५३. सेंसस ऑफ इंडिया रिपोर्ट,१९११ (आर० पामदत्त, पृ० १२८ से)

१५४. वही, पृ० १२८।

१५५. इंपीरियल गजेटियर ऑफ इंडिया.१९०७ (आर० पामदत्त, पृ०१२८ उद्धृत)।

१५६. मिचेल, पृ० १२५ से उद्धृत।

१५७. लंदन टाइम्स, मार्च ३० १९१७ (सुन्दरलैंड, पृ० XII से उद्धृत)

१५८. रेनाल्ड, पृ० १७३। ब्रेल्सफोर्ड : रिबेल इंडिया, पृ० १२५ भी देखिए।

चौथा अध्याय

१५९. जैक्स, पृ० २२७ ।

१६०. थॉर्नर : इनवेस्टमेंट इन ऐम्पायर, पृ० २ से उद्धृत।

१६१. वही, पृ० १९३ ।

१६२. वही, पृ० २–३ ।

१६३. वही, पृ० ३।

१६४. वही, पृ० ३ ।

२०९. लारेंस के० रोसिंजर एवं सहयोगी : दि स्टेट ऑफ एशिया, पृ० ४४८।

२१०. डेनियल थॉर्नर : एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना, खंड XV, पृ० १५ में।

२११. ब्रेल्सफोर्ड : सबजैक्ट इंडिया, पृ० १८७ ।

२१२. गुंथर, पृ० ३८७ ।

२१३. रिपोर्ट ऑफ दि रॉयल कमीशन ऑन लेबर इन इंडिया, पृ० ९४–९६ ।

२१४. वही, पृ० ४१५ ।

२१५. रेनाल्ड्स पृ० ३०८ ।

२१६. मिचेल, पृ० ३८ । कुछ भारतीयों के विचार जानने के लिए देखिए, आर० पाम दत्त, पृ०१७२–७३।

२१७. मिचेल पृ० ४२ ।

२१८. वही, पृ० ४१ ।

छठा अध्याय

२१९. नेहरू : डिस्कवरी ऑफ इंडिया, पृ० ४३५ ।

२२०. वही, पृ० ४४० ।

२२१. वी० बी० सिंह : इंडियन इकोनॉमी –यशटर्ड एण्ड टुडे, पृ० ५२ से उद्धृत।

२२२. इस संबंध में एक प्रसिद्ध भारतीय अर्थशास्त्री डॉ० मथाई तथा प्रसिद्ध भारतीय व्यवसायी श्री टाटा के वक्तव्यों के लिए नेहरू की 'डिस्कवरी ऑफ इंडिया' का पृ० ५३५ देखिए।

२२३. वार्ड, पृ० १३८–३९ ।

२२४. नेहरू : डिस्कवरी ऑफ इंडिया, पृ० ३१६ ।

२२५. आर० पामदत्त, पृ० १३२–३३ ।

२२६. थॉम्पसन एवं गैरेट, पृ० ५८८–८९ से उद्धृत। ब्रेल्सफोड : सब्जैक्ट इंडिया, पृ० १५४ भी देखिए जिस पर डॉ० मान का ग्रामीण अध्ययन पर आधारित यह कथन उद्धृत है कि १७७१ में खेतीबाड़ी की जमीन का औसत ४० एकड़ था जो १९१५ में गिरकर ७ एकड़ रह गया।

२२७. टी० डब्ल्यू होल्डरनेस, पृ० १३९–४० ।

२२८. रोमेश दत्त, खंड I, पृ० २४७ ।

२२८अ. वही, खंड II, पृ० ६४ ।

२२९अ. यहां रिपोर्ट का मात्र एक हिस्सा दिया गया है। विस्तार के लिए देखिए, हौविट, पृ० २७८–८२।

२२९. सिन्हा, खंड II, पृ० ४८ से उद्धृत।

२३०. थॉम्पसन एवं गैरेट, पृ० ११० ।

२३१. हंटर, पृ० ३८ ।

२३२. यह पत्र हंटर द्वारा पृ० ३८०–८२ पर परिशिष्ट में पूरा का पूरा दिया गया है।

२३३. वही, पृ० ३९ ।

२३४. लॉर्ड विलियम बेंटिंक का व्याख्यान (नेहरू : डिस्कवरी ऑफ इंडिया ३३२ से उद्धृत)।

२३५. देखिए मार्शल, पृ० ६४ तथा ६८ ।

२३५अ. पी० बनर्जी, पृ० १३७ से उद्धृत।

२३६. उपरोक्त, पृ० १३७ में उद्धृत कारवर।

२३७. रामगोपाल, पृ० ३५ से उद्धृत।

२३८. ब्रिटिश हाउस ऑफ कॉमन्स में जून ३, १८५३ को जारी जॉन ब्र व्याख्यान से उद्धृत (जेम्स ई० टी० रोजर्स संपा०), खंड I, पृ० १३

२३९. रोमेश दत्त, खंड I, पृ० २५० ।

२४०. विलियम डिग्बी, पृ० ५० से उद्धृत। ।

२४१. रोमेश दत्त, खंड I, पृ० २५८–५९ से उद्धृत ।

२४२. ओ डोनल : दि फेलियर ऑफ लॉर्ड कर्जन, पृ० २१ से उद्धृत।

२४३. रोमेश दत्त, खंड १, पृ० १०१-२ से उद्धृत।

२४४. वही, खंड II, पृ० ५२ से उद्धृत।

२४५. वही, पृ० ५६ ।

२४६. वही, पृ० २३१ ।

२४७. ओ डोनेलः दि फेलियर ऑफ लॉर्ड कर्जन, पृ० २९।

२४८. रोमेश दत्त, खंड II, पृ० २३८ ।

२४९. हार्डी, पृ० २ ।

२५०. कॉटन, पृ० ८३ ।

२५१. ओ डोनेल : दि कॉजेज़ आफै प्रेजेन्ट डिस्कॉन्टेंट इन इंडिया, पृ० ९४

२५२. देखिए ओ डोनेल-रचित "दि कॉज़ेज़ ऑफ प्रेजेन्ट डिस्कॉन्टेंट इन इण्डिया" का १०वां अध्याय।

२५३. विल्सन, पृ० २८।

२५४. ओडोनेल : दि कॉजेज ऑफ प्रेजेन्ट डिस्कॉन्टेंट इन इंडिया, पृ० १०

२५५. वही, पृ० १०३ में उद्धृत श्री कॉम्पटन।

२५६. मिचेल, पृ० ४३ ।

२५७. वही, पृ० ४३ ।

सातवां अध्याय

२५८. नौरोजी पृ० २३६ से उद्धृत।

२५९. ओडोनेल : दि फेलियर ऑफ मॉर्ड कर्मान पृ० ३८–३९।

२६०. कमिशन तथा अन्य .... के लिए देखिए, झा, पृ० १९२९।

२६१. देखिए, काटन, पृ० ...।

२६२. देखिए, पाम दत्त, २२७ ।

२६३. मैकडोनाल्ड, पृ० १६० ।

२६४. देखिए, रोगाल्ड, अध्याय VIII ।

२६५. वही, पृ० १६४।

२६६. एनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना, खंड XV, पृ० १३–१४ में डेनियल थॉर्नर।

२६७. विलसो, पृ० ३९–४०। रोमेश दत्त, खंड II, पृ० २५२–५३ भी देखिए।

२६८. कास्ट्रो, पृ० १८२ ।

२६९. भाटिया, पृ० १८ से उद्धृत।

२७०. देखिए। बनर्जी, पृ० २२७ ।

२७१. थॉर्नर : लैंड एण्ड शेयर इन इंडिया, पृ०६३–६४।

२७२. वही।

२७३. ब्रेल्सफोर्ड : सब्जैक्ट इन इंडिया, पृ० १७८ ।

२७४. ब्रेल्सफोड : रिबेल इंडिया, पृ० १२६ ।

२७५. मजूमदार (संपा०) : स्ट्रगल फॉर फीडस, पृ० ८४२ ।

२७६. गुंथर, पृ० ४७०-७१ ।

२७७. वहीं, पृ० ४७३।

२७८. डूरेंट : ऐडवेंचर्स इनजीनियस, पृ० ३४४ ।

२७९. रामगोपाल, पृ०५७ से उद्धृत।

२८०. लिली, पृ० २९२-९३ ।

२८१. आर० पाम दत्त, पृ० १९४ से उद्धृत।

२८२. देखिए, ए० जी० एल० शा (संपा०), पृ०१८६-८९ ।

२८३. रोजर्स (संपा०), खंड I, पृ० ४१-४२ ।

२८४. जॉन ब्राइट के व्याख्यान के लिए देखिए, रोमेश दत्त, खंड II, पृ० २६४ ।

२८५. वही, पृ० ४०३ ।

२८६. आर० पामदत्त, पृ० १९४-९६ से उद्धृत।

२८७. रेनाल्ड्स , पृ० २९६ ।

२८८. प्रतिशतता के विवरण वी० बी० सिंह (संपा०) : इकोनॉमिक हिस्टरी ऑफ इंडिया, पृ० १७७ पर अंकित तालिका से लिए गये हैं।

२८९. देखिए, कास्ट्रो, पृ० १८६ ।

२९०. देखिए, कॉडन, पृ० १२६-२९ ।

२९१. वी० बी० सिंह (संपा०) : इकोनॉमिक हिस्टरी ऑफ इंडिया, पृ० १२५ से उद्धृत।

२९२. देखिए, थॉर्नर : लैंड ऐंड लेबर इन इंडिया, पृ० १०५ पर अंकित तालिका।

आठवां अध्याय

२९३. डूरेट : अवर ओरिएंट हेरिटेज, पृ० ४४१ से उद्धृत।

२९४. मेजर (संपा०), पृ० ३२ ।

२९५. डिग्वी, पृ० १२३ ।

२९६. वही, पृ०१३० ।

२९७. मैकडोनाल्ड, पृ० १६३।

२९८. जॉर्ज, पृ०८३ से उद्धृत।

२९९. मजूमदार (संपा०) : ब्रिटिश पैरामाउंट्सी ऐंड इंडियन रेनेसा, भाग–I, पृ० ३९९–४०० ।

३००. जॉर्ज, पृ०८३ ।

३०१. मजूमदार (संपा०) : ब्रिटिश पैरामाउंट्सी ऐंड इंडियन रेनेसां, भाग–I, पृ० ८३६ ।

३०२. नेहरू : डिस्कवरी ऑफ इंडिया, पृ० ५३०–३१ से उद्धृत।

३०३. देखिए, रोमेश दत्त, खंड II, पृ० १९७–९९।

३०४. जॉर्ज, पृ० ८४ ।

३०५. विल्सन, पृ० २८ ।

३०६. मजूमदार (संपा०) : ब्रिटिश पैरामाउंट्सी ऐंड इंडियन रेनेसां, भाग-I, पृ० ३५२ ।

३०७. सुन्दरलैंड, पृ० १३५ ।

३०८. मजूमदार (संपा०) : ब्रिटिश पैरामाउंसी ऐंड इंडियन, रेनेसा, भाग-१, पृ० ३५२ ।

३०९. एडवर्ड थॉम्पसन, पृ० ३१ ।

३१०. 'लंदन स्पेक्टेटर', अप्रैल २७,१९१० (सुन्दरलैंड, पृ० १३३ से उद्धृत)।

३११. बाराक्लौफ, पृ० २१५ से उद्धृत।

३१२. जॉन स्टूअर्ट मिल, पृ० ८ ।

३१३. गुटोन, पृ० २८२ ।

३१४. मजूमदार (संपा०) : ब्रिटिश पैरामाउंट्सी ऐंड इंडियन, रेनेसा, भाग-II, पृ० ४१५।

३१५. नौरोजी, पृ० ३४० ।

३१६. सुन्दरलैड, पृ० १४२ से उद्धृत।

३१७. डूरेंट : सीज़र ऐंड क्राइस्ट, पृ०६७० ।

३१८. रेनाल्ड्स, पृ० १३८ ।

३१९. देखिए, ब्रुक ऐडम्स; २८६ तथा डूरेट : सीज़र ऐंड क्राइस्ट; पृ० ६७० ।

३२०. वॉयटिन्स्की , पृ० ३५ ।

३२१. चरणसिं, पृ० ४७३ ।

३२२. किंग्सले डेविस, पृ० २८ ।

३२३. वी० बी० सिंह (संपा०) : इकोनॉमिक हिस्टरी ऑफ इंडिया, पृ० १०५ ।

३२४. जॉनसन, पृ० १८६ ।

३२५. डेविस, पृ० २७ ।

३२६. वही, पृ० २५ ।

३२७. रेनाल्ड्स पृ० ३०७ ।

३२८. दत्त एवं सुन्दरम्, पृ० ८७ ।

३२९. मिचेल, पृ० ४६ ।

३३०. रेनाल्ड्स , पृ० ३०७ ।

३३१. वुचनन, पृ० ११ ।

३३२. वही, पृ० ११ ।

३३३. धर्मपाल, पृ० १८२ से उद्धृत।

३३४. बुचनन, पृ० ११ से उद्धृत।

३३५. थॉर्नर : लैंड ऐंड लेबर इन इंडिया, पृ० १०७ ।

३३६. वही, पृ० १०७ ।

नवां अध्याय

३३७. नमक की कहानी के लिए हम श्री गोपाल के ऋणी हैं। पृ० ११-१४ ।

३३८. घोष, पृ० १२३ ।

३३९. गोपाल, पृ० ९८-९९ से उद्धृत।

३४०. सुन्दरलैंड, पृ० १४९ ।

३४१. डूरेट : दि केसा फॉर इंडिया, पृ० ४९ ।

३४२. सैंडरसन, पृ० १२५ ।

३४३. गोपाल, पृ० ९२ से उद्धृत।

३४४. डिग्बी, पृ०८।

३४५. रेनाल्ड्स , पृ० ३०४-५ ।

३४६. रोमेश दत्त, खंड II, पृ० ९०-९१ ।

३४७. वही, पृ० ८३ ।

३४८. वही, पृ० १०१ ।

३४९. नौरोजी, पृ० ३६-३७ से उद्धृत।

३५०. वही, पृ० ५४४-४५ ।

३५१. हीडमैन, पृ० ५७-५८ ।।

३५२. विल्सन, पृ० ६१ ।

३५३. वही, पृ० ६५-६७ ।

३५४. कॉटन, पृ० ११६ ।

३५५. डिग्बी, पृ० ८१ ।

३५६. वही, पृ० १३४ ।

३५७. कॉटन, पृ० ११६ ।

३५८. रेनाल्ड्स , पृ० ५३ ।

३५९. रोमेश दत्त, खंड I, पृ० १५५–५६ ।

३६०. वही, पृ० १५८ ।

३६१. वही, पृ० १५९ ।

३६२. रेनाल्ड्स , पृ० ५३ ।

३६३. शिरोल, पृ० २७९ ।

३६४. फील्डहाउस, पृ० २७९ ।

३६५. रेनाल्ड्स, पृ० ३१७ ।

३६६. मिचेल, पृ० ५८–५९ ।

३६७. हीरालाल सिंह, पृ० २०९ ।

३६८. क्रॉस, पृ० ५१ ।

३६८अ. वही, पृ० ५० ।

३६९. फील्ड हाऊस, पृ० २७२ ।

३७०. पैने, पृ० २९ ।

३७१. लाजपतराय : इंग्लैंड्स डेबिट टु इंडिया, पृ० ६४ से उद्धृत।

३७२. हीरालाल सिंह, पृ०१३ ।

३७३. टिंकर, पृ० १६२ ।

३७४. गुंथर, पृ० ४७० ।

३७५. 'जर्नल ऑफ एशियन स्टडीज़', फरवरी, १९७१ में पृ० ३४२–५४ पर ए० वैडफोर्ड स्पैगेनवर्ग का लेख– 'यदि प्रॉब्लम ऑफ रिक्रूटमेंट फॉर दि इंडियन सिविल सर्विस ड्यूरिंग दि लेट नाइंटीन्थ सेंचूरी'।

३७६. क्रॉस, पृ०४७ ।

३७७. डिग्बी, पृ०९।

३७८. क्रॉस, पृ०४५।

३७९. दूखिए, टिप्पणी सं० २७५ एवं २७६ ।

३८०. फ्रांस, पृ०४४।

३८१. गोपाल, पृ० ३३० से उद्धृत।

३८२. लाजपतराय : इंग्लैड्स डेबिट टु इंडिया, पृ० २३३ ।

३८३. जैक्स, २२३–२४ ।

३८४. रेनाल्ड्स, पृ०१०८ ।

३८५. वही, पृ०१०८।

३८६. जॉर्ज पृ०८३ ।

३८७. कॉटन, पृ०१२६ ।

३८८. हार्डी, पृ० ५।

३८९. नेहरू : डिस्कवरी ऑफ इंडिया, पृ० ३२४ ।

३९०. हार्डी, पृ०८१-८२ ।

३९१. कास्ट्रो, पृ०१८७ ।।

३९२. बुचनन, पृ० ४७९ ।

३९३. रोसिंजर : फॉरेन पॉलिसी रिपोर्ट्स, २९९ ।

३९४. वही, पृ० २९९ ।

दसवां अध्याय

३९४अ. नौरोजी, पृ० २१३-१५ से उद्धत अन्य बहुत-सी अधिकृत उद्घोषणाओं के लिए देखिए, पृ० २११-२० ।

३९५. वही, पृ० २१६ ।

३९६. विल्सन, पृ० ३७ ।

३९७. हीडमैन, पृ०७४ ।

३९८. वही, पृ० ४० ।

३९९. वही, पृ० १५२ ।

४००. डिग्बी, पृ० ८० ।

४०१. लिली, पृ० २८५ ।

४०२. बिपिनचन्द्र, पृ० १५ से उद्धत।

४०३. ओ डोनेल : दि फेलियर ऑफ लॉर्ड कर्जन, पृ० १२।

४०४. हाडी, पृ० ७८ ।

४०५. वही, पृ० ९४ ।

४०६. मैकडोनाल्ड, पृ० १५९ ।

४०७. ऐंस्टी, पृ० VIII

४०८. वही, पृ० ५।

४०९. ब्रेल्सफोर्ड : रिबेल इंडिया, पृ० १०० ।

४१०. डूरेट : दि केस फॉर इंडिया, पृ० ५५ ।

४११. ब्रेल्सफोर्ड : सब्जैक्ट इंडिया, पृ० १६७ ।

४१२. येल, पृ० १११ ।

४१३. 'गरीबी के लिए प्रसिद्ध' प्रायद्वीप गैस्से (कनाडा) के बारे में कनाडा के प्रमुख अंग्रेज़ी दैनिक द ग्लोब एण्ड मेल के एक संवाददाता ने लिखा है- ''यहां के लोग एक लम्बे समय से गरीबी मे जीने के अभ्यस्त हो गये है। पिछले महीनों में कुछ इस प्रकार के संके मिले थे कि वे इस स्थिति से उबरना चाहते हैं किन्तु वहां जाने पर पता चला कि वहां के कामगरों की स्थिति और मानसिकता पहले जैसी ही है (मार्च २२,१९७१)। यह उस देश की स्थिति है जहां का रहन-सहन संसार में उच्चतम दर्जे का है और यहां शिक्षा अनिवार्य एवं निःशुल्क है।''

टाइम ने अपने २९ अगस्त १९७७ के अंक में एक लेख अमेरिकी गरीबों के निम्नवर्ग के बारे में लिखा- ''इस अत्यधिक धनवान देश में, जहां की सरकार ने वर्षों

खरबों डालर गरीबी दूर करने पर खर्च किये और जहां कोई कम से कम भूखों नहीं मरता है, निम्नवर्ग ने असहायावस्था तथा निराशा के आगे घुटने टेक दिये हैं।''

कैस्ट्रो को भी देखें, उसने लिखा है– ''चिरकालिक भूख व्यक्ति को निरुत्साही बनाती है, जिससे वह न तो महत्त्वाकांक्षी बन पाता है और न उसमें नेतृत्व प्रदान करने की क्षमता रहती है।''

४१४. रोसिंजर : फॉरेन पॉलिसी रिपोर्ट्स, पृ० २९७ ।

४१५. जॉन स्टूअर्ट मिल, पृ० १३५ ।

४१६. मसानी, पृ० ९४ ।

४१७. दुर्गादास, पृ० २५७ से उद्धृत।

४१८. जनवरी २६, १९३० को 'स्वतंत्रता की घोषणा' से लिया गया एक बहुत छोटा-सा अंश भारत में सर्वतत्र पढ़ा गया। पूरी घोषणा के लिए देखिए, सीतारामय्या, खंड I, पृ० ६१५-१६ ।।४१८अ. व्हीलर-बेनेट, पृ० ७०३ से उद्धृत।

४१९. जॉर्ज बर्नार्ड शा, पृ० ७ ।

४२०. हेनरी जॉर्ज, पृ० ३२३ ।

४२१. पैने, पृ० ८६ ।

४२२. लाजपतराय : अनहैप्पी इंडिया, पृ० ४३० से उद्धृत।

४२३. होविट, पृ० VIII ।

४२४. नोबेल पुरस्कार विजेता स्व० लॉर्ड वॉयड-ओर (एक समय संयुक्त राष्ट्र के 'एफ०ए०ओ०' के जनरल डायरेक्टर थे) जिनका वर्णन जोश डि कास्ट्रो, की भूमिका में, पृ०XI है।

४२५. हचिंस, पृ० १०१ से उद्धृत चार्ल्स डिके।

४२६. वही, पृ० १०१।

४२७. कुछ चीजें इंग्लैंड द्वारा भारत से उधार ली गई। देखिए, पाकिन्सन, पृ० २०६-७ तथा एडवर्ड्स : ईस्ट-वैस्ट पैसेज।

४२८. मूर एवं एल्ड्रिज (संपा) पृ० १५१।

❑❑❑

परिशिष्ट

संदर्भ ग्रंथ

एडम्स, ब्रुकः दि लॉ ऑफ सिविलाइज़ेशन ऐंड डिके, एल्फ्रेड ए० नोफ, न्यूयॉर्क, १९४३, प्र० सं०१८९६।

एन्स्टे, वेराः दि इकोनामिक डेवलपमेंट ऑफ इंडिया, लांगमैन्स, ग्रीन ऐंड कं० लदन, तृ० सं० १९४२ (प्र० सं० १९२९)।

बेन्स, सर एडवर्ड : हिस्टरी ऑफ दि कॉटन मैनूफैक्च र इन ग्रेट ब्रिटेन, फ्रैंक कॉस ऐंड कं. लि०, लंदन, द्वि० सं० १९६६ (प्र० सं० १८३५)।

बनर्जी, पी० : ए स्टडी ऑफ इंडियन इकोनॉमिक्स, कलकत्ता विश्वविद्यालय, स० सं० १९५४।

बेरेक्लाफ, ज्योफ्री : हिस्टरी इन ए चेंजिंग वर्ल्ड, बेसिल ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड, १९५७।

बाशम, ए०एल० : दि वंडर दैट वाज़ इंडिया, ग्रोव प्रेस, न्यूयॉर्क, एवरग्रीन संस्करण,१९५९।

बर्के, जॉर्ज डी० : ब्रिटिश एटीट्यूड्स टुवार्ड्स इंडिया, १७५८–१८५८, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस, लंदन, १९६१।

भाटिया, बी०एम० : फेमिन्स इन इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई,१९६३।

भट्टाचार्य, एस० : ए डिक्शनरी ऑफ इंडिया हिस्टरी, जॉर्ज ब्रेज़लिर; न्यूयॉर्क,१९६७।

वर्डवुड, सर जॉर्ज (सी० एम० सी० एस० आई०, एम० डी०) : दि इंडस्ट्रियल आर्ट्स आफ इंडिया (२ भाग), चैपमैन ऐंड हॉल लि०, लंदन, १८८०।

वर्डवुड, सर जॉर्ज (एम० डी०) : रिपोर्ट ऑन दि ओल्ड रिकार्ड्स आफ दि इंडिया ऑफिस, डब्ल्यू० एच० एलेन ऐंड कं० लि०, लंदन, द्वि पुनमुद्रण, १८९१ ।

बोल्ट्स विलियम : कंसीडेरेशन ऑन इंडिया एफेयर्स पर्टीकुलरली रेस्पेक्टिग दि प्रेजेंट स्टेट आफ बेंगाल ऐंड इट्स डिपेंडेंसीज़, लंदन, द्वि० सं०१७७२।

ब्रेल्सफोर्ड, एच० एन० : रिबेल इंडिया, विक्टर गोलांज लि०, लंदन, १९३१ ।

बुचनन, बी०एच० : दि डेवलपमेंट आफ कैपीटलिस्टिक ऐंटरप्राइज इन इंडिया, फ्रैंक कास ऐंड कं० लि०, १९६६, प्र० सं० १९३४, ''दि वर्क्स ऑफ एडमंड वर्क'', हार्पर ऐंड ब्रदर्स पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क।

कैरी, डब्ल्यू०एच० : दि गुड ओल्ड डेज़ आफ आनरेबल जान कम्पनी, क्वींस बुक कं०, कलकत्ता, १९६४, प्र० सं०१८८२।

कास्ट्रो, जोशू डि : दि ज्योग्राफी ऑफ हंगर, लिटिल, ब्राउन ऐंड कं०, बोस्टन, १९५२।

चक्रवर्ती, कुंडू एवं पात्रा : इकोनॉमिक डेवलपमेंट ऑफ इंडिया, नवभारत पब्लिशर्स, कलकत्ता, द्वि० सं० १९६९।

चंद, तारा : हिस्टरी ऑफ दि फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया, भारत सरकार का प्रकाशन, १९६५।

चंद्र, बिपिन : दि राइज़ ऐंड ग्राथ ऑफ इकोनॉमिक नेशनलिज्म इन इंडिया, प्योपिल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९६६; लोकेश चंद्र (संपा०) : 'इंडियाज कंट्रीब्यूशन टु वर्ल्ड थॉट ऐंड कल्वर' विवेकानंद रॉक मेमोरियल कमिटि, मद्रास, भारत,१९७०।

शिरोल, सर वेलेंटाइन : इंडिया, चार्ल्स स्क्रिबनर्स संस, न्यूयॉर्क,१९२६।

क्लेफाम, सर जॉन : ऐन इकोनॉमिक हिस्टरी ऑफ मार्डन ब्रिटेन, कैम्ब्रिज एट दि यूनिवर्सिटी प्रेस, संस्करण, १९६३; प्र० सं० १९३२ (खंड २)।

क्लार्क, रोनाल्ड : दि लाइफ ऐंड वर्क ऑफ जे० बी० एस० हालदाने, होडर ऐंड स्टाउटन लि०, लंदन, १९६८।

कांस्टेबल, आर्चीबाल्ड : ट्रैवल्स इन दि मुगल ऐम्पायर बाई फ्रैंकोइस बर्नियर एस० चांद ऐंड कं०, न्यू देहली, द्वि० सं० १९६८।

कॉटन, सर हेनरी (के० सी० एस० आई०, एम० पी०) : न्यू इंडिया और इंडिया इन ट्रांजीशन, संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण; केगन पॉल, ट्रेंच, टू बनर ऐंड कं० लि०, लंदन,१९०७, प्र० सं० १८९०।

कूपलैंड, सर आर० : इंडिया ए रिसेटलमेंट, ऑक्फोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन,१९०२।

क्रॉस, कोलिनःदि फाल आफ दि ब्रिटिश ऐंपायरः१९१८–६८,पाल्डिन १९७०

कनिघम, डब्ल्यू डब्ल्यू० (डी० डी०) : दि ग्रोथ ऑफ इंगलिश इंडस्ट्री ऐंड कॉमर्स, कैम्ब्रिज, दि यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन,१९२९ ।

दास, दुर्गा : इंडिया फ्राम कर्जन टू नेहरू ऐंड आपटर, कॉलिन्स, लंदन, १९६९।

दत्त, रुद्र एवं सुन्दरम्, के० पी० एम० : इंडियन इकोनॉमी, नीरज प्रकाशन, दिल्ली, द्वि० सं० १९६६।

डेविस, ए० मर्विन : क्लाइव ऑफ प्लासी–ए बायोग्राफी, निकलसन ऐंड वाट्सन लि०, लंदन,१९३९ ।

डेविस, ए० मर्बिन : वारेन हेस्टिंग्स, आइवर निकलसन ऐंड वाट्सन लि०, लंदन, १९३५।

डिग्बी, विलियम (सी० आई० ई०) : प्रॉसपेरस ब्रिटिश इंडिया : ए रिवेलेशन फ्रॉम ऑफिशियल रिकार्ड्स, टी० फिशर अनविन, लंदन १९०१।

ड्रेंट, बिल : एडवेंचर्स इन जेनिसस,साइमन ऐंड श्स्टर, न्यूयॉर्क,१९३१ ।

ड्रेंट, बिल : सीजर ऐंड क्राइस्टद्व साइमन ऐंड शस्टर, न्यूयॉर्क,१९४४।

डूरेट, बिल : दि केस फॉर इंडिया, साइमन ऐंड शूस्टर, न्यूयॉर्क,१९३०।

डूरेंट, बिल : अवर ओरिएंटल हेरिटेज, साइमन ऐंड शूस्टर, न्यूयार्क,१९५४।

डूरेट, बिल : दि रिफोर्मेशन, साइमन ऐंड शूस्टर, न्यूयॉर्क, १९५७।

दत्त, रोमेश, दि इकोनामिक हिस्टरी आफ इंडिया (खंड २), पब्लिकेशन डिविजन, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, १९६३; प्र० सं०१९०६।

दत्त, पाम आर० : इंडिया टुडे, लेफ्ट बुक क्लब संस्करण, विक्टर गोलांज लि०, लंदन,१९४२ ।

ऐडवर्ड्स, मिचेल : ब्रिटिश इंडिया, सिजविक ऐंड जैक्सन, लंदन, १९५७।

ऐडवर्ड्स, मिचेल : ईस्ट–वैस्ट पैसेज, टैपलिंगर पब्लिशिंग कं०, न्यूयॉर्क, १९७१।

ऐनसाइक्लोपीडिया अमेरिकाना (खंड १५) अतर्राष्ट्रीय संस्करण, न्यूयॉर्क,१९५७।

फील्डहाउस, डी० के० : दि कोलोनियल ऐम्पायर, वाइडेनफील्ड ऐंड निकलसन, लंदन, १९६६।

फॉस्टर, विलियम (सी० आई० ई० संपादित) : अर्ली ट्रैवल्स इन इंडिया : १५८३–१६१९, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन,१९२१।

गांगुली, बी० एन० (संपादित) : रीडिंग्स इन इंडियन इकोनामिक हिस्टरी, एशिया पब्लिशिंग हाउस, लंदन,१९६४।

जॉर्ज, हेनरी : प्रोग्रेस ऐंड पावर्टी, केगन पॉल, ट्रैच, टूबनर ऐंड कं. लि०, लंदन,१९०८।

घोष, सुधीर : गांधीज़ एमिसरी, हौटन मिफलिन कं०, न्यूयॉर्क,१९५७।

दि ग्लोब ऐंड मेल : टोरेंटो से प्रकाशित कनाडा का अग्रणी दैनिक समाचार–पत्र।

गोपाल, राम : ब्रिटिश रूल इन इण्डिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई,१९६३।

गुतांव, जीन : दि पोप स्पीक्स : डॉयलॉग्स ऑ पाल VI विद जीन गुतांव मेरेडिथ प्रेस, न्यूयॉर्क,१९६८), गुंथर, जॉन : 'इन साइड एशिया', हार्पर ऐंड बदर्स, न्यूयॉर्क, द्वि० सं० १९३९।

हार्डी,जे० कीर (एम० पी०) : इण्डिया, बी० डब्ल्यू० हुबेश, न्यूयॉर्क, १९०९।

हेबर, रेजिनाल्ड (डी० डी०) : नेरेटिव आफ एजनी श्रू दि अपर प्रोविसेज ऑफ इण्डिया, जॉन मरे, लंदन, च० सं०१८२९।

हीगेल, जॉर्ज, विलियम फ्रेडरिक : दि फिलोसफी आफ हिस्टरी, डोवर पब्लिकेशन, न्यूयॉर्क,१९५६।

हिन्देन, टीटा : दि ऐंपायर ऐंड आफ्टर, एसेंसियल्स बुक्स लि०, लंदन,१९५९।।

हॉब्सन, जे० ए० : इंपीरियलिज्ज़्म–ए स्टडी, जॉर्ज एलेन ऐंड अनविल लि०, लेदन, संस्करण १९१४, (१९०२ में पहली बार प्रकाशित)।

हॉफमैन, रॉस जे० एस० एवं पॉल लीवेक (सपा०) ❑ वर्क्स पालिटिक्स, एल्फ्रेड ए० नोफ, न्यूयॉर्क १९६७।

होल्डरनेस, सर टी० डब्ल्यू० : प्योपिल्स ऐंड प्रॉबलम्स ऑफ इण्डिया, थर्नटन बटरबर्थ लि०, लंदन, पं० सं० १९३१; (१९१२ में पहली बार प्रकाशित)।

होविट, विलियम : कोलोनाइजेशन ऐंड क्रिश्चियनिटी : ए पापुलर हिस्टरी ऑफ दि ट्रीटमेंट ऑफ दि नेटिव्स बाई दि यूरोपियन्स इन आल दिअर कोलोनीज़, लांगमैन, ओ, ब्राउन, ग्रीन ऐंड लांगमैन्स, लंदन, १८३८ । यह पुस्तक सन् १९६९ में नीग्रो यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क से प्रकाशित हुई थी।

हंटर, सर डब्ल्यू डब्ल्यू० (के० सी० एस० आई०) ❑ दि एनल्स आफ रूरल बेंगाल, स्मिथ एल्डर ऐंड ५०, लंदन, स० सं० १८९७।

हचिन्स, एफ० जी०: दि इल्यूजन ऑफ परमानेंस–ब्रिटिश इपीरियलिज्म इन इण्डिया, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी ऑफ इण्डिया, स्वान सॉनेसीन, लॉरी ऐंड कं०, लंदन, १८८६।

जैन, पी०सी० (सपा०) : इंडस्ट्रियल प्रॉब्लम्स ऑफ इण्डिया, किताबिस्तान, इलाहाबाद, भारत, संशोधित संस्करण, १९४४।

जैक्स, एल० एच० : दि माइग्रेशन ऑफ ब्रिटिश कैपीटल टु १८७५, थॉमस नेल्सन ऐंड संस लि०, लंदन, १९६३; (१९२७ में पहली बार प्रकाशित)।

झा, शिवचंद्र : स्टडीज़ इन दि डेवलपमेंट ऑफ कैपीटलिज्म इन इण्डिया, फर्मा के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १९६३।

जॉनसन, स्टेनले : लाइफ विदाउट बर्थ, लिटिल ब्राउन ऐंड क०, वोस्टन, १९७०।

दि जर्नल आफ एशियन स्टडीज़, यू० एस० ए० में प्रकाशित।

किनकेड, डेनिस : ब्रिटिश सोशियल लाइफ इन इण्डिया, जॉर्ज रूटलेज ऐंड सन्स लि० लंदन, १९३८।

नोलेस (आई० सी० ए०) : दि इकोनॉमिक डेवलपमेंट ऑफ दि ब्रिटिश ओवरसीज़ ऐम्पायर, जॉर्ज रूटलेज ऐंड सन्स लि०, लंदन, १९२४।

कुलकर्णी, वी० बी० : ब्रिटिश डोमिनियन इन इण्डिया ऐंड आफ्टर, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६४।

लैंडस्ट्रोम : दि क्वेस्ट फार इण्डिया, डबलडे, न्यूयॉर्क,१९६४; लेविस मार्टिन डी०

(संपा०) : %दि ब्रिटिश इन इंडिया%, डी० सी० हैल्थ ऐंड कं०, वोस्टन, १९६५।

लिली, डब्ल्यू०एस० : इण्डिया ऐंड इट्स प्राब्लम्स, सैंड्स ऐंड कं०, लंदन १९०२।

मैकाले, लॉर्ड टी० बी० : क्रिटिकल ऐंड हिस्टोरिकल एस्सेज, लांगमैन्स ग्रीन, रीडर ऐंड डायर, लंदन, १८७७।

मैकाले, लॉर्ड टी० बी० : क्रिटिकल, हिस्टोरिकल ऐंड मिसलेनियस एस्सेज़, हॉटन, मिफलिन ऐंड कं०, बोस्टन,१८८०।

मैक्डोनाल्ड, जे० रामसे : दि अवेकनिंग ऑफ इण्डिया, होल्डर ऐंड स्टाउटन लंदन, १९०९।

मेजर, आर० एच० (भूमिका सहित संपा०) : इंडिया इन दि फिपटीन्थ सेंचुरी, बर्ट फ्रेंकलिन पब्लिशर न्यूयॉर्क, मूलतः हाकलुट सोसाइटी ऑफ लंदन।

मजूमदार, डॉ० आर० सी० (संपा०) दि एज ऑफ इंपीरियल यूनिटी, भारतीय विद्या भवन, बंबई १९६५।

मजूमदार, डॉ० आर० सी० (संपा०) : ब्रिटिश पेरामाउंट्सी ऐंड इंडियन रेनेसेंस, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६३, भाग-१ (खंड IX), एवं भाग II (खंड X)। ये दोनों भाग ग्यारह खंडों वाली सीरीज़ 'दि हिस्टरी ऐंड कल्चर ऑफ दि इंडियन प्योपिल' के अन्तर्गत है।

मसानी, आर०पी० : ब्रिटेन इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, १९६२।

मिल, जेम्स : दि हिस्टरी ऑफ ब्रिटिश इंडिया, चेल्सी हाउस पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क, १९६८, (१८१८ में प्रथम बार प्रकाशित)।

मिल, जॉन स्टुअर्ट : कांसीडेरेशन्स ऑन रिप्रिजेंटेटिव गवर्नमेंट, लागमैन्स ग्रीन ऐंड कं०, लंदन, प्योपिल्स एडीशन,१८६७।

मिचेल, केट एल० : इंडिया विदाउट फेबल, एफफ्रेड ए० नूफ, न्यूयॉर्क, १९४२।

मूर, क्लार्क डी० एवं डेविड एल्ड्रिज (संपा०) : इंडिया : यशटर्डे ऐंड टुडे, ए० बेंटम पाथ फाइंडर संस्करण न्यूयॉर्क, १९७०।

मुकर्जी, डॉ० राधाकुमुद : इंडियन शिपिंग-ए हिस्टरी आफ दि सी-बान ट्रेड ऐंड मेरीटाइम ऐक्टीविटी आफ दि इंडियन्स फ्रॉम दि अलिफएस्ट टाइम्स, आरिएंट लांगमैन्स, बम्बई, द्वि०सं० १९५७ (१९१२ में लंदन में पहली बार प्रकाशित)।

मुकर्जी, राधाकमल : दि इकोनॉमिक हिस्टरी ऑफ इंडिया : १६००-१८००, किताब महल, इलाहाबाद, १९६७।

नौरोजी; दादाभाई : पॉवर्टी ऐंड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया, पब्लिकेशन डिविजन, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया,१९६२ (१९०१ में पहली बार प्रकाशित)।

नेहरू, जवाहरलाल : डिस्कवरी ऑफ इंडिया : एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई संस्करण १९६७; (१९३४ में पहली बार प्रकाशित)।

नेहरू, जवाहरलाल : ग्लिम्पसेज ऑफ वर्ल्ड हिस्टरी, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, संस्करण १९६४ (१९३४ में पहली बार प्रकाशित)।

ओ डोनेल, सी० जे० (एम० पी०) : दि काजेज़ ऑफ प्रेजेंट डिस्कान्टेंट इन इंडिया, टी० फिशर अनविन, लंदन, द्वि० सं० १९०८।।

ओ डोनेल, सी० जे० : ट्वेंटी एट ईयर्स इन इंडिया - दि फेलियर ऑफ लॉर्ड क्यूरन, टी० फिशर अनबिन, १९०३। यद्यपि इस पुस्तक पर लेखक का नाम नही दिया गया है, फिर भी यह सुनिश्चित होता है कि यह पुस्तक सी० जे० ओ' डोनेल द्वारा उस समय लिखी गई जब कि वह अपने किसी अन्य कार्य में व्यस्त था। वह एक सेवामुक्त आई० सी० एस० अफसर और ब्रिटिश संसद्-सदस्य था।

ओर्मे, रॉबर्ट : हिस्टोरिकल फ्रेगमेंट्स ऑफ दि मुगल ऐम्पायर आफ दि मोराटोज़, ऐंड ऑफ दि इंगलिश कन्सर्न्स इन हिन्दुस्तान, एसोसिएटेड पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९७४ (१७८२ में पहली बार प्रकाशित)।

पेन, थॉमस : कॉमन सेंस ऐंड दि क्राइसिस, डाल्फिन बुक्स, न्यूयॉर्क (१७७६ में पहली बार प्रकाशित)।

पाल, धर्म : इंडिया साइंस ऐंड टेक्नोलॉजी इन दि एटीन्थ सेंचुरी : सम कंटेम्पोरेरी यूरोपियन एकाउंट्स, इम्पैक्स इंडिया, दिल्ली, १९७१ ।

पनिकर, के० एम० : एशिया ऐंड वैस्टर्न डोमिनेंस, जॉर्ज एलेन ऐंड अनविन लि०, लंदन, सं० सं० १९६७।

पार्किन्सन, सी० नार्थकोटे : ईस्ट ऐंड वैस्ट, हॉटन मिफलिन क०, बोस्टन, १९६३।

पीरार्ड, फान्सकोइस : दि बॉएज ऑफ फान्सकोइस पीराई ऑफ लावेल टु दि ईस्ट इंडीज़ एटसटरा, १६१९ में एल्बर्ट ग्रे द्वारा 'हाकुल सोसाइटी ऑफ लंदन' के लिए फ्रेंच से अंग्रेजी में अनूदित।

राधाकृष्णन, डॉ० एस० : रिकवरी ऑफ फेथ, हिंद पॉकेट बुक्स लि०, दिल्ली १९५५।

राय, लाजपत : इंग्लैंड्स डेबिट टु इंडिया, पब्लिकेशन डिविज़न, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया, १९६७ (१९१७ में लंदन में पहली बार प्रकाशित)। राय, लाजपत : 'अनहैप्पी इंडिया', बत्रा पब्लिशिंग कं०, कलकत्त, १९२८।

राय, लाजपत : यंग इंडिया, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया पब्लिकेशन, १९६८ (१९१६ में यू० एस० ए० में पहली बार प्रकाशित)।

रिपोर्ट ऑफ दि रॉयल कमिशन ऑन लेबर इन इंडिया, एच० एम्स० स्टेशनरी ऑफिस, लंदन, १९३१।

रेनाल्ड्स, रेजिनाल्ड : दि व्हाइट साहिब्स इन इंडिया मार्टिन सेकर ऐंड बारबर्ग लि०, लंदन, द्वि० सं० १९३८।

रोजर्स, जेम्स ई० टी (संपा०) : स्पीचेज़ ऑन क्वेश्चन्स आफ पब्लिक पॉलिसी, जॉन ब्राइट (एम० पी०), मेकमिलन ऐंड कं०, लंदन,१९६८।

रोसिंजर, लारेंस के० : 'इन्डिपेंडेंस फॉर कोलोनियल एशिया–दि कोस्ट ऑफ दि वैस्टर्न वर्ल्ड' इन फारेन पालिसी रिपोर्ट्स, खंड XIX, अंक २२, फरवरी १९४४।

रोसिंजर, लारेंस के० : रेस्टलैस इंडिया, हेनरी होल्ट ऐंड कंपनी, न्यूयॉर्क,१९४६।

रीसिंजर, लारेंस के० तथा सहयोगी : दि स्टेट ऑफ एशिया, 'दि अमेरिकन इंस्टीट्यूट ऑफ पासिफिक रिलेशंस के अंतर्गत एल्फ्रेड ए० लोफ, न्यूयॉर्क द्वारा १९५१ में जारी।

सैंडरसन, जी०डी० : इंडिया ऐंड ब्रिटिश इंपीरियलिङ्गम, बुक मैन एसोसिएट्स, १९५१; ओ० पी० बुक, यूनिवर्सिटी ऑफ ऐन आर्बन, मिशिगन।

सेनकोर्ट, रॉबर्ट : इंडिया इन इंगलिश लिट्रेचर, सिम्पकिन, मार्शल, हैमिल्टन, कैन्ट ऐंड कं० लि०, लंदन,१९२३।

शा, ए० जी० एल० (संपा०) ❑ ग्रेट ब्रिटेन ऐंड दि कोलोनीज़, १८१५-१८६५, मेथ्यून ऐंड कं. लि, लंदन, १९७०।

शा, जॉर्ज बर्नार्ड, मेजर बारबरा, लांगमैन्स, ग्रीन ऐंड कं लि०, न्यूयॉर्क, द्वि० सं०, १९६० (१९०६ में पहली बार प्रकाशित)।

सिंह, चरण : इंडियाज़ पावर्टी ऐंड इट्स सोल्यूशन, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई,१९६५।

सिंह, हीरालाल : प्राब्लम्स ऐंड पालिटिक्स ऑफ दि ब्रिटिश इन इंडिया १८८५-१८९८। सिंह, वी० बी० (संपा०) : इकोनॉमिक्स हिस्टरी ऑफ इंडिया, १८५७-१९५६, एलाइड पब्लिशर्स प्रा० लि०, दिल्ली, १९६५।

: सिंह, वी० बी० : इंडियन इकोनॉमी-यशटर्डे ऐंड टुडे, प्योपिल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६४।

सिंहल, डी० पी० : इंडिया ऐंड वैस्टर्न सिविलाइजेशन (खंड १), मिशिगन स्टेट यूनिवर्सिटी प्रेस, . १९६९,

सिन्हा, एन० के० : दि इकोनॉमिक हिस्टरी ऑफ बेंगाल, फर्मा के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता, १९६२।

सीतारामय्या, डॉ० पी० : दि हिस्टरी ऑफ इंडियन नेशनल कांग्रेस, वर्किंग कमिटी, इलाहाबाद, इंडिया, १९३५, स्ट्रैची जॉन : 'दि एंड ऑफ ऐंपायर', विक्टर गोलाज लि०, लंदन,१९५९।

सुंदरलैंड, जे० टी० : इंडिया इन बांडेज़, लेविस कोपलैंड क०, न्यूयॉर्क, १९२९ । ब्रिटिश सरकार ने इस पर प्रतिबंध लगा दिया था।

थॉम्पसन, एडवर्ड : दि अदर साइड ऑफ दि मेडल, हरकोर्ट, ब्रेस ऐंड कं०, न्यूयॉर्क, १९२६।

थॉम्पसन एवं गैरेट : राइज़ एंड फुलफिलमेंट आफ ब्रिटिश रूल इन इंडिया, मैकमिलन ऐंड कं, लंदन, १९३४।

थॉर्नर, डेनियल : इनवेस्टमेंट इन ऐंपायर ब्रिटिश रेलवे ऐंड स्टीम शिपिंग एंटरप्राइज़ इन इंडिया, १८२५-१८४९, यूनिवर्सिटी ऑफ पेनसिलवेनिया, फिलेडेल्फिया,१९५९।

थॉर्नर, डेनियल एवं एलिस : लैंड ऐंड लेवर इन इंडिया, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, पुनर्मुद्रण, १९६५ (१९६२ में पहली बार प्रकाशित)।

थिंकर, हफ : इंडिया ऐंड पाकिस्तान, पाल माल प्रेस, लंदन, द्वि० सं० १९६७।

टौसेंट, अगस्टे : हिस्टरी ऑफ दि इंडियन ओसेन, जूने गुचरनौड द्वारा अनूदित; यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस, १९६६, टॉयन्बी आर्नोल्ड : 'वन वर्ल्ड एंड इंडिया', ओरिएंट लांगमैन्स, दिल्ली, १९६०।

वाडिया ऐंड मर्चेंट : अवर इकोनॉमिक प्रॉब्लम, वोरा ऐंड कं० पब्लिशर्स प्रा. लि., इंडिया।

वॉर्ड, बारबरा : इंडिया ऐंड दि वैस्ट, डब्ल्यू डब्ल्यू० नॉर्टन ऐंड कं०, न्यूयॉर्क,१९६१।

व्हीलर-बेनेट जॉन डब्ल्यू० : किंग जॉर्ज VI-हिज़ लाइफ ऐंड रेजिन, मैकमिलन ऐंड कं० लि०, लंदन, १९५८।

विल्सन, ए० जे० : ऐन एंपायर इन पान, टी० फिशर अनविन, लंदन, १९०९।

विच, डोनाल्ड : क्लासिकल पोलिटिकल इकानॉमी ऐंड कोलोनीज, जी० बैल ऐंड संस लि. लंदन, १९६५।

विंट, गूई : दि ब्रिटिश इन एशिया, फाबर ऐंड कावर लि०, लंदन, एन०डी, द्वि० सं० (१९७४ में पहली बार प्रकाशित)।

वॉयटिन्स्की , डब्ल्यू० एस० : इंडिया : दि अवेकनिंग जायन्ट, हार्पर ऐंड ब्रदर्स, न्यूयॉर्क, १९५७।

येल, जॉन : ए यान्की ऐंड दि स्वामिज़, वेदान्त प्रेस, हॉलीवुड, कैलिफोनिया, १९६१ ।

जिकिन, मौरिन ऐंड ताया : ब्रिटेन ऐंड इंडिया, चट्टी ऐंड विन्दुस, लंदन, १९६४।

❑❑❑

सच्चे राष्ट्र चिंतक संत - आचार्य विद्यासागर जी

परम पूज्य संत शिरोमणि आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज के बारे में कुछ भी कहना सूरज को दीपक दिखाने जैसा ही है उनके गुणों का बखान तो समुद्र की गहराई को नमक की पुतली से नापने जैसा है। वो इतना चले की चलते-चलते स्वयं राह बन गये, वो इतना तपे की तपते-तपते स्वयं तप बन गये। एक बात अवश्य कहना चाहता हूँ आचार्य श्री परम आध्यात्मिक पुरुष हैं। आचार्य कुन्द-कुन्द के बताये मार्ग पर स्वयं चल रहे हैं और अन्य को चला रहे हैं। वे मूलाचार की चर्या का पालन करते हुए समयसार में लीन रहते हैं किन्तु जब वर्तमान भारत की दशा देखते हैं तो बहुत दुःखी होते हैं।

जिन्हें आत्मा की बात बतानी चाहिये वे अब इंसान बनाने की बात करते हैं। जिनकी चौकी पर समयसार आदि महान ग्रन्थ रहते थे वहाँ अब मेरे सपनों का भारत जैसी पुस्तक देखने को मिलती है।

अब समय आ गया है जागने का। आचार्य श्री जो कह रहे हैं उसको समझने एवं उस पर चलने का। वे अपने अनुभव से हमें बता रहे हैं। अपने इतिहास को लौटाने की आवश्यकता है। कुछ मुख्य बिन्दु जो उस इतिहास को लौटाने के लिये आचार्य श्री परम आवश्यक मानते हैं।

१. अंग्रेजी माध्यम हटाकर हिन्दी माध्यम लाना।
२. इण्डिया नहीं भारत का प्रयोग करना।
३. हथकरघा के माध्यम से रोजगार की बहुत बड़ी समस्या दूरकर शुद्ध जीवनशैली अपनाना।
४. कृषि एवं पशुपालन (गौपालन) से रामराज्य की स्थापना करना।
५. शिक्षा को जीवन में प्रायोगिक बनाना (७२ कलाओं से युक्त करना)।

पूज्य आचार्य श्री संकेत बहुत कम करते हैं, अब यदि समाज-देश के लिये संकेत किये हैं तो हमें अक्षरशः पालन कर इस मार्ग पर बढ़ जाना चाहिये। इसी में हमारी भलाई है। शुरुआत किसी दूसरे से नहीं अपने से करना प्रारम्भ कर देना चाहिये। स्वाभिमान को जाग्रत कर गुरुवाणी को अपनाने की महती आवश्यकता है। समझदार के लिये ईशारा ही काफी है।

- मुनि संधानसागर